साहित्य-चिन्ता

[illegible]

डॉ॰ देवराज एम्॰ ए॰, डी॰ फिल्॰
लखनऊ विश्वविद्यालय

गौतम बुक डिपो, दिल्ली।

संस्करण] १९५०

प्रकाशक—
गौतम बुकडिपो
नई सड़क, दिल्ली।

मुद्रक—
नारायण कृष्ण पावगी
भारत प्रेस
४ नेहरू रोड, लखनऊ

मूल्य ४)

निवेदन

इस पुस्तक में सन् चौवालीस से जून सन् पचास तक समय-समय पर लिखे हुए निबन्धों का संग्रह है। निबन्धों में अधिकांश का लक्ष्य साहित्यिक मूल्यांकन के मानों को स्थिर करना है। साहित्य की प्रत्येक उल्लेखनीय विशेषता का सम्बन्ध किसी व्यापक मानदण्ड से होना चाहिए, फलतः, नरन्चरित्र के मानों की तरह, यहाँ भी मान अनेक हैं। फिर भी उनमें कुछ मुख्य हैं, अथवा परीक्षक-विशेष को और युग-विशेष को मुख्य जान पड़ते हैं। इस दृष्टि से 'कल्पना और वास्तविकता' तथा 'साहित्य और संस्कृति' इस संग्रह के केन्द्रगत निबन्ध कहे जा सकते हैं।

प्रस्तुत लेखक ने जब-जब साहित्य के सम्बन्ध में किसी महत्वपूर्ण तथ्य का साक्षात्कार किया है तब-तब वह उसे सशक्त रूप में प्रकट करने बैठ गया है। इस प्रकार ये निबन्ध किसी निश्चित योजना के अनुसार नहीं लिखे गये। उनमें उन्हें अधिक रस मिलेगा जो प्राप्ति की अपेक्षा प्रयत्न में और निष्कर्ष की अपेक्षा चिन्तन-प्रक्रिया में अधिक रुचि लेते हैं।

निबन्धों में यदि पाठकों को कहीं आंतरिक मतभेद दीख पड़े तो वे तिथि-क्रम से बाद के विचारों को अधिक मान्य समझें। यों बाद के विचार प्रायः पूर्व विचारों के पूरक-रूप जान पड़ने चाहिएँ।

व्यावहारिक आलोचना लिखने की रुचि और अवकाश लेखक को कम रहते हैं। साम्प्रतिक आलोचना की उलझी या डाँवाडोल स्थिति ही उसे कभी-कभी इस ओर खींच लेती है। छायावाद पर एक पुस्तक न लिखी जा चुकी होती तो शायद अन्तिम निबन्ध लिखने का आयास भी न किया गया होता। जैनेन्द्र और शुक्ल जी पर प्रायः इस आशंका से लिखा गया कि कहीं उनका वास्तविक कृतित्व अनदेखा न रह जाय। इस सम्बन्ध में मैं भिन्न मत रखनेवाले मान्य आलोचकों से क्षमा और पाठकों से छुट्टी चाहता हूँ।

प्रस्तुत लेखक पण्डित रामचन्द्र शुक्ल और टी. एस. इलियट की रस-सम्वेदना से विशेष प्रभावित हुआ है। अमरीकी विचारक इर्विंग बैबिट के निबन्ध पढ़ने के कई वर्ष बाद उसने सहसा एक दिन अपने को उसकी सांस्कृतिक दृष्टि से सहानुभूति करते पाया। इन वरेण्य विचारकों का मैं ऋणी हूँ।

लखनऊ
विश्वविद्यालय
आषाढ़, २००७

देवराज

राजनीतिज्ञों में सन्त
बुद्धिवादी बौद्ध संस्कृति के अन्यतम प्रतीक
आचार्य नरेन्द्रदेव को

॰ाडिर

अनुक्रम

There is need of a type of critic who will essay the task, especially difficult under existing circumstances, of creating standards.
(Irving Babbit in "On Being Creative.")

भूमिका

इस पुस्तक में पाठकों को कहीं 'साहित्य की परिभाषा या स्वरूप' जैसा कोई शीर्षक नहीं मिलेगा, साथ ही उन्हें लेखक के प्रमुख निष्कर्षों को खोजने में कठिनाई हो सकती है। इस सम्बन्ध में अपेक्षित स्पष्टीकरण के लिये यह भूमिका लिखी जा रही है।

साहित्य रागबोधात्मक अनुभूति अथवा वैसी अनुभूति की लिखित भाषा में अभिव्यक्ति है। दृष्टि या चेतना के सम्मुख आनेवाले सभी विषयों के प्रति हम राग-विराग अनुभव नहीं करते, कारण यह है कि हम उन्हें अपने सुख-दुख से सम्बन्धित करके अपने जीवन की परिधि में नहीं ला पाते। हमारा साधारण जीवन बहुत थोड़े-से परिवेश से सम्बद्ध और उसी के प्रति प्रतिक्रियाशील होता है। भौतिक और सामाजिक विज्ञान हमारी बोध-चेतना का विस्तार करते हैं, तब हम महसूस करते हैं कि हमारा क्षुद्र दीखने-वाला भौतिक-सामाजिक परिवेश देश-काल में फैली हुई अनन्त वास्तविकता का अंग है और वह उस वास्तविकता के संचालक जटिल नियमों से नियन्त्रित है। इस प्रकार शिक्षा द्वारा हम अपने जीवन को एक ओर विस्तृत प्रकृति-जगत से और दूसरी ओर इतिहास एवं आर्थिक-राजनैतिक शक्तियों या संगठनों से सम्बद्ध करके देखना सीखते हैं।

प्रकृति और समाज के यथार्थ के अतिरिक्त एक तीसरी चीज भी है जो, उन दोनों का कार्य होते हुए भी, उनसे स्वतन्त्र रूप में हमारे जीवन को प्रभावित करती है; वह तीसरी वस्तु वे कल्पनाएँ हैं जो मनुष्य आपसी तथा अपने और वास्तविकता के सम्बन्धों को लेकर बनाता है; ऐसी कल्पनाओं को हम सिद्धान्त और विश्वास, आदर्श, परम्परा आदि नामों से पुकारते हैं। हमारे तथाकथित नैतिक नियम इन्हीं कल्पनाओं का प्रभावशाली अंग हैं।

साहित्य जीवन और जगत को केवल इस दृष्टि से देखता है कि कहाँ और कैसे वह हमारे सुख और दुख, हर्ष और क्षोभ, आह्लाद और उद्वेग का कारण बन जाता है।

हमारे सुख-दुख, उल्लास और क्षोभ के बहुत से हेतु हमारे निकट

परिवेश में व्याप्त हैं—प्रकृति के रूपों में, प्रणय के पात्र में, शिशु में, तथा मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार में। साहित्य इन हेतुओं का प्रत्यक्षीकरण करता है। गीतकाव्य अपेक्षाकृत सरल वास्तविकताओं का अंकन करता है, *नाटक या उपन्यास अधिक जटिल यथार्थ का।* सुख-दुख, हर्ष और उद्वेग के सरल हेतु प्रायः हमारी जीव-प्रकृति और उसकी निकटवर्तिनी मनोवैज्ञानिक प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं; साहित्य में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु क्योंकि मनुष्य सामाजिक जीव है अतः वह साहित्य में जटिल सामाजिक यथार्थ को भी स्थान देता है। इस प्रकार साहित्य में बुराई-भलाई, शुभ-अशुभ आदि के विश्लेषण के अवसर उपस्थित होते हैं।

यातायात के साधनों की वृद्धि और विश्व के भौगोलिक-आर्थिक एकीकरण के साथ विभिन्न मानव-समूहों के सुख-दुख भी नितान्त संकुल रूप में सम्बन्धित हो गये हैं—आज सारा विश्व एक समाज बनाता जा रहा है। फलतः आज के साहित्यकार का (सामाजिक) दायित्व और कार्य दोनों गुरुतर हो गये हैं।

प्रथम श्रेणी का अथवा उच्चतम कोटि का कलाकार मेरी दृष्टि में वह है जो जैवी-मनोवैज्ञानिक प्रकृति की विवृति के साथ-साथ अपने समाज की जटिल वास्तविकताओं का उद्घाटन करने की क्षमता रखता है।

'मेघदूत', 'इन्दुमतीस्वयंवर' आदि के गायक कालिदास ने रघुवंशियों के चरित्र की विवृति के बहाने इस बात का प्रमाण दिया है कि वह समकालीन भारत के नैतिक-चारित्रिक आधारों से अनभिज्ञ न था। यही बात अन्य महान् कलाकारों पर लागू है।

किन्तु यह प्रत्येक कलाकार श्रेष्ठ कवि हो सकता है जो जीवन के एक-दो अंगों की मार्मिक विवृति कर सकता है। बिहारीलाल इस कोटि में आते हैं। स्पष्ट ही इन मानों का रटे हुये नियमों के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता। भारतीय गाँवों और ग्रामीण जीवन के नितान्त यथार्थ चित्र देते हुए सूर ने जैवी-मनोवैज्ञानिक प्रकृति को छूनेवाली वास्तविकताओं का इतना पूर्ण अंकन किया है कि उनका स्थान, तुलसी और कालिदास से भी ऊपर, वाल्मीकि, व्यास, होमर, दान्ते, शेक्सपियर, टॉल्स्टाय जैसे ए—१ अर्थात् उच्चतम प्रतिभामनीषियों के साथ है।

कल्पना और वास्तविकता

कल्पना अनुभूत यथार्थ के नये तोड़े का उपकरण है। आपके पास यदि कुछ परिचित है, तो आप उसे मनोनुकूल अनेक क्रमों में रखकर अपनी रुचि

का परिचय दे सकते हैं। एक ही परिस्थिति में मनुष्य कई तरह की प्रतिक्रिया कर सकता है, गणित की एक ही समस्या को कई तरह हल किया जा सकता है। इस प्रकार की विविधता मानव स्वभाव के साथ जुड़ी है। किन्तु इस विविधता की सीमा है, अन्यथा हम कभी दूसरों के स्वभाव, चरित्र एवं सम्भाव्य प्रतिक्रियाओं का अनुमान ही न कर सकें और हमारे संगी-साथी हमारे लिये पहेली बन जायें।

कोरी कल्पना-शक्ति कुछ दूर तक ही श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि में सहायक होती है, समृद्ध सृजन के लिये यह जरूरी है कि साहित्यकार की चेतना यथार्थ के प्रभूत चित्रों से परिपूर्ण या समृद्ध हो। कम समृद्ध अनुभूति वाला कलाकार प्रायः चेतनागत तत्वों के निपुण ग्रथन की ओर अधिक ध्यान देता है—यह निपुणता यथार्थ की जटिलता को नहीं, रचयिता की प्रतिमा-चातुरी को ही अधिक प्रतिफलित करती है। इस प्रकार की निपुणता एक हद तक प्यारी लगती है, फिर वह एकरसता और ऊब पैदा करने लगती है।

इसीलिए जो लेखक पुराने कवियों द्वारा दृष्ट यथार्थ के ही नये संगठन उपस्थित करते हैं वे प्रायः कला-साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान नहीं पाते। 'रत्नाकर' कुछ ऐसे ही कवि हैं।

इन विचारणाओं से एक बात जो स्पष्ट रूप में सामने आती है वह है—साहित्य में बोधतत्व की प्रधानता। इस मन्तव्य को हम "विभावों की मुख्यता" का सिद्धान्त भी कह सकते हैं।

साहित्य का रागतत्व उसके बोधतत्व से ही लक्षित या निरूपित होता है। यदि बोध-चेतना का विषय विराट् है तो राग चेतना उदात्त एवं ओजस्विनी होगी, यदि बोध विषय सूक्ष्म है तो राग-चेतना भी सूक्ष्म सम्वेदनाओं (**Feelings**) का रूप लेगी, विपुल आवेग का नहीं।

बोधतत्व की सम्बद्धता में ही रागतत्व की अभिव्यक्ति या व्यंजना सम्भव है—शायद रस की व्यंग्यता के मूल में यही प्रतीति है। बोधतत्व का निरालापन ही एक युग अथवा कलाकार के साहित्य को दूसरे से भिन्न करता है। साहित्यिक विकास का अर्थ भी बोधतत्त्व का विकास है।

किसी युग में हम क्या देखते हैं और क्या नहीं, यथार्थ का कौन रूप हमें जँचता है और कौन नहीं, यह युग की अथवा हमारी सांस्कृतिक रुचि पर निर्भर करता है। युग-विशेष की नैतिक-सांस्कृतिक मान्यताएँ समकालीन कला के बोधपक्ष को निर्धारित और निरूपित करती हैं।

किन्तु बोध-पक्ष की प्रधानता का यह अर्थ नहीं कि कलाकार किसी भी

प्रकार के यथार्थ का चित्रण कर दे। कला में यथार्थ के वे ही रूप ग्राह्य हो सकते हैं जो मनुष्य के सुख-दुःख, हर्ष-उद्वेग से सम्बद्ध कर दिये गये हैं। सामाजिक यथार्थ के चित्रण में इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये कभी-कभी लम्बी कार्य-कारण-शृंखला का संकेत आवश्यक हो सकता है। यथार्थवाद की कमजोर रचनाओं में बहुत-से विविध ऐसे चित्रों को भर दिया गया है जो रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित नहीं करते। इस प्रकार का चित्र-संगठन असाहित्यिक कहा जा सकता है।

इस दृष्टि से देखने पर मानवता की प्रधानता दिखाई पड़ती है। वास्तव में यह जीव-प्रकृति के महत्त्व का सबूत है। अन्ततः हमारे लिये वही यथार्थ महत्त्व रखता है जिसे देखने को हम अन्तःप्रकृति एवं स्वार्थ-दृष्टि द्वारा बाध्य हैं, जो हमारे जीवन के लिये सुख-दुःख-रूप सार्थकता रखता है। यहाँ 'हमारे जीवन' से मतलब है मानवता का सामान्य जीवन, और 'स्वार्थ-दृष्टि' से तात्पर्य है मानवता के उस सामान्य जीवन की अपेक्षा से हित-अनहित की दृष्टि।

° ° °

सुख-दुःख, सन्तोष-असन्तोष की मार्मिक एवं व्यापक परिस्थितियों के निर्देश और विश्लेषण से साहित्य में तीव्रता और गहराई आती है। साहित्य की दृष्टि से उच्च कोटि का व्याख्या-सूत्र वह है जो अकस्मात् जीवन की किसी व्यापक विशेषता या परिस्थिति का संक्षेप में प्रकाशन कर दे। साहित्यकार द्वारा संकेतित सिद्धान्त का साधारणीकरण अर्थात् रागात्मक ग्रहण संभव होना चाहिए।

इन्द्रिय-ग्राह्य रूप-रंग और ध्वनियाँ ही नहीं, मनुष्यों के पारस्परिक राग-द्वेष, प्रेम, त्याग और संघर्ष ही नहीं, जीवन की संभावनाओं के आधार पर कल्पित आदर्श, एवं जीवन के अनुचिन्तन से उत्पन्न आशा-निराशा, हर्ष-विषाद के "मूड" भी साहित्य के चिरन्तन और महत्त्वपूर्ण विषय हैं।

हमारी इच्छा का विषय प्रायः हमारे व्यक्तित्व से बाहर होता है—कोई वस्तु या व्यक्ति, किसी का प्रेम या प्रसन्नता, किसी परिस्थिति का परिवर्त्तन; जिसे हम आदर्श कहते हैं वह परिस्थितियों के उस संगठन का नाम है जिसे चरितार्थ करने के लिये बाधाओं से संघर्ष या प्रयत्न अपेक्षित है। फलतः केवल अन्तर्जगत, अर्थात् इतर जगत से निरपेक्ष व्यक्ति का अन्तःकरण, साहित्य का विषय शायद ही कभी होता हो।

साहित्य में हम भीतर की किसी चीज को व्यक्त करते हैं यह धारणा उत्पन्न होने का मुख्य कारण यह है कि हम विषय-जगत से बटोरे हुए अनुभव-खण्डों को अपनी कल्पना द्वारा यथेच्छ नये रूपों में संगठित करते

है। यह संगठन हमारी इच्छा अथवा सांस्कृतिक दृष्टि पर निर्भर रहता है। किन्तु सप्राण साहित्य में यह संगठन यथार्थ के नियमों का अनुवर्ती होता है; अतः वह स्वाभाविक लगता है, और यह भ्रम उत्पन्न करता है कि 'ऐसा ही कुछ हमने देखा या सोचा था।' इसके विपरीत 'अलिफ़ लैला' जैसी कथाएँ हमारी स्वप्न देखने अथवा मनोराज्य बनाने की पलायन-वृत्ति को व्यक्त और पुष्ट करती हैं।

किसी देश, या जाति का स्थायी कल्याण वही साहित्य कर सकता है जिसके विधायक तत्व अनुभूत यथार्थ से चुने गये हैं। श्रेष्ठ साहित्य युग की शक्तियों, युग के नर-नारियों, युग की आशाकाङ्क्षाओं, उसकी सुख-दुख तथा चरित्र-सम्बन्धी संभावनाओं से ठोस परिचय कराता है।

प्रायः अल्पप्राण कलाकार विगत युग के सम्मानित आदर्शों की दुहाई देता हुआ अपने युग के यथार्थ और उसकी जरूरतों की उपेक्षा करता है। इसके विपरीत महाप्राण कलाकार देश या जाति को अपने जटिल युग से परिचित कराता हुआ उन्हें उस युग में विपुल एवं दृढ़ भाव से जीवित रहने की प्रेरणा देता है।

विपुल एवं दृढ़ जीवन के लिये विवेक चाहिए। यह विवेक वैराग्य का नहीं, यथार्थ के निकट परिचय का द्योतक है। 'महाभारत', 'किरातार्जुनीय', 'रघुवंश' आदि ग्रन्थों में ऐसा ही विवेक सचित है।

यथार्थ और आदर्श

महाप्राण साहित्य के विधायक तत्त्व युग-जीवन के यथार्थ से चयन किये जाते हैं। इन तत्वों का किस-किस प्रकार का संगठन, युग-शक्तियों का कैसा उपयोग, नर-जीवन को विपुल एवं मनोज्ञ बना सकता है यह संकेत करना ही कलाकार का आदर्शवाद है। इस आदर्श-साधना का एक निषेध-मूलक पहलू भी है — अर्थात् उन परम्पराओं एवं (युगीन) शक्तियों का भंडाफोड़ करना जो जीवन-धारा को रुद्ध या कलुषित करनेवाली हैं।

बदलते हुए यथार्थ के सन्दर्भ में प्रत्येक युग को आदर्श जीवन का ढाँचा या ढाँचे फिर से खड़े करने पड़ते हैं। कोई भी जीवित जाति विगत युगों के चिन्तन और आदर्शों को समग्रता में स्वीकार करके नहीं चल सकती। जीवित जाति के सदस्य किसी भी क्षेत्र में अकर्मण्य नहीं रह सकते; वे यथार्थ के आह्वान को सुनने के अभ्यस्त और सतर्क होते हैं; वे अतीत से चिन्तन और कर्म की प्रेरणा लेते हैं, पर उस चिन्तन और कर्म का प्रयोग वर्त्तमान यथार्थ को समझने और उसकी संभावनाओं का समुचित उपयोग करने में करते हैं।

'आप अपना उद्धार करें', यह सीख व्यक्ति की भाँति प्रत्येक युग पर भी लागू है। जीवन-विवेक प्राप्त करने के लिये (व्यक्ति की भाँति) प्रत्येक युग को स्वतंत्र साधना करनी पड़ती है। अतः, दो युगों के महान् विचारकों की भाँति, किन्हीं दो युगों के महान् कलाकार एक-दूसरे की आवृत्तिमात्र नहीं हो सकते।

* * *

किसी युग में वे ही कृतियाँ प्रसिद्ध और प्रभावशाली हो पाती हैं जो उस युग के यथार्थ (अर्थात् उसकी संचालक शक्तियों एवं आशाकाङ्क्षाओं) और उसकी संभावनाओं को सशक्त अभिव्यक्ति देती हैं। आगे आनेवाली पीढ़ियाँ ऐसी कृतियों में विगत जीवन के परिपूर्ण चित्र देखती हैं। ऐसे चित्रों के आकलन द्वारा हम अपने जीवन को विपुलता या विस्तार देते हैं।

समाजशास्त्रीय आलोचना का काम दो चीजों का उद्घाटन करना है; एक, यह कि युग-विशेष ने किस प्रकार किसी कृति को उसका वर्त्तमान रूप दिया; दूसरे, युगीन यथार्थ के संभाव्य संगठनों को प्रस्तुत करके उस कृति ने सामाजिक प्रगति पर क्या प्रभाव डाला। इसके विपरीत विशुद्ध कलात्मक दृष्टि वाला समीक्षक यह देखने की चेष्टा करेगा कि कलाकार ने अनुभूत यथार्थ को कितनी सघन और सरस अभिव्यक्ति दी है, और अभिव्यक्त यथार्थ कितना विस्तृत एवं जटिल है।

आलोचना का अधिकार—१

काव्य-साहित्य के सम्बन्ध में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह सुशिक्षित हो या अर्द्धशिक्षित, अपने को आलोचना करने का अधिकारी समझता है। यह कुछ अद्‌भुत है, पर अस्वाभाविक नहीं। बात यह है कि साहित्य एक सार्वजनिक अथवा जनतन्त्रात्मक कला है, संगीत और चित्रकला की भाँति कुछ खास लोगों की चीज़ नहीं। उसका रस लेने की किंचित् क्षमता प्रायः सभी में वर्त्तमान रहती है। किन्तु फिर भी लोग जिस तेजी से साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करने अथवा उन पर निर्णयात्मक सम्मति प्रकट करने को दौड़ पड़ते हैं, उसे देखकर आश्चर्य ही होता है।

वस्तुतः आलोचना एक शास्त्र है और किसी भी शास्त्र को आत्ममात् करने में कुछ समय लगता है। साहित्य का रस लेने की क्षमता एक बात है और उसकी आलोचना करने की योग्यता सर्वथा दूसरी। इस तथ्य को प्रायः शिक्षित लोग भी भूल जाते हैं। साहित्य का रसास्वादन अपेक्षाकृत एक मूक एवं निष्क्रिय व्यापार है, जब कि आलोचना मुखर और सक्रिय होती है। पहली क्रिया संश्लेषण या समन्वयात्मक है, दूसरी विश्लेषणात्मक; पहली ग्रहणात्मक है, दूसरी प्रदान या व्यंजनात्मक। आलोचना में अपनी भावनाओं या विचारों को दूसरों की चेतना में संक्रान्त करना पड़ता है। इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य का अध्ययन करते समय हमारी वृत्ति अ-जागरूक या अ-बौद्धिक होती है; किन्तु उस काल हमारी राग-बोधात्मक वृत्ति का विषय कुछ दूसरा होता है। उस समय हम मुख्यतः काव्यानुभूति को उसकी समग्रता में पाने को उत्सुक होते हैं। काव्याध्ययन के क्षणों में गृह्यमाण अनुभूति के सामंजस्य-असामंजस्य आदि की चेतना रह सकती है; पर उनके हेतुओं की नहीं। इसके विपरीत आलोचना का विषय गृहीत अनुभूति के विशेष प्रकार की होने के इन हेतुओं का निर्देश है।

तो, सफल आलोचक बनने के लिए किस प्रकार की योग्यता या योग्यताओं का सम्पादन अपेक्षित है? प्रसिद्ध जीवनी लेखक लिटन स्ट्रैची ने इतिहासकार के आवश्यक गुणों के सम्बन्ध में लिखा है कि इतिहासकार में

तीन बातें होनी चाहिएँ—घटनाओं को ग्रहण या आत्मसात् करने की योग्यता, उनका वर्णन कर सकने की योग्यता और एक दृष्टिकोण। थोड़े-से परिवर्तन से हम कह सकते हैं कि साहित्य के आलोचक में तीन योग्यताएँ होनी चाहिएँ—साहित्यिक कृति को पहचानने अथवा कलात्मक अनुभूति को ग्रहण करने की योग्यता, उन कृति या अनुभूति की विशेषताओं को भाषा में व्यक्त कर सकने की योग्यता और उसके मूल्यांकन के लिए एक दृष्टिकोण। अब हम क्रमशः इन अभीष्ट योग्यताओं का स्वरूप समझाने की चेष्टा करेंगे।

जो व्यक्ति काव्य-साहित्य का रस ग्रहण कर सकता है, उसे हम भावुक या सहृदय कहते हैं। यह भावुकता आलोचक का पहला आवश्यक गुण है। जो रसज्ञ या भावुक नहीं है, जो काव्य-कृति या काव्यानुभूति को देखते ही नहीं पहचान या हृदयङ्गम कर लेता, वह आलोचक नहीं बन सकता। सफल आलोचक होने से पहले मनुष्य को सफल पाठक होना चाहिए। क्योंकि साहित्यकार अपनी अनुभूति को भाषा के प्रतीकों में व्यक्त करता है, इसलिए प्रत्येक पाठक और आलोचक का भाषा से प्रगाढ़ परिचय होना चाहिए। और चूँकि काव्यगत अनुभूति एक विशिष्ट रसमयी होती है, इसलिए उसमें विशिष्ट रसग्राहिता की उपस्थिति अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यह भी स्पष्ट है कि विद्वान् साहित्यकारों की कृतियाँ समझ सकने के लिए पाठकों और आलोचकों को सुशिक्षित होना चाहिए। वस्तुतः साधारण पाठकों की अपेक्षा आलोचकों का ज्ञान-भण्डार कहीं अधिक सम्पन्न होना चाहिए।

यदि पाठकों और भावी आलोचकों की रसग्राहिणी शक्ति का स्वाभाविक रूप में विकास हो, तो सम्भवतः उसकी इतनी कमी, उसमें इतना विकार, न हो। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि हमारी काव्याभिरुचि का विकास काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी मत-मतान्तरों के बीच होता है। हमारे शिक्षकों का उद्देश्य हमारी काव्य-साहित्य का रस ग्रहण करने की शक्ति को प्रबुद्ध और पुष्ट करना नहीं, अपितु कुछ विशिष्ट आलोचना-प्रकारों से परिचित कराकर परीक्षा में 'पास' कराना-भर रहता है, जिसके फल-स्वरूप हमारी वह शक्ति नितान्त विकृत या कलुषित हो जाती है। हम यह नहीं कहते कि 'आलोचना के सिद्धान्तों' की शिक्षा अवांछनीय है; पर इन सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त करने से पहले छात्रों की रसग्राहिणी शक्ति को काफी पुष्ट हो जाना चाहिए, जिससे वे इस प्रकार के विभिन्न सिद्धान्तों का आपेक्षिक महत्व आँक सकें।

इस विकृति का प्रभाव पाठकों, आलोचकों तथा साहित्यकारों तीनों पर देखा जा सकता है, और उसका कुफल साहित्यकारों तथा सम्पूर्ण जातीय

साहित्य को भोगना पड़ता है। तीनों में सबसे ज्यादा अपराधी आलोचक होता है, क्योंकि वह साक्षात् पाठकों को और उनके माध्यम से साहित्यकारों को प्रभावित करता है—उनके मूल्यांकन का स्वरूप और कभी-कभी काव्य-सृष्टि की दिशा निर्धारित करता है। (प्रभावशाली आलोचक पाठकों के ही नहीं, लेखकों के भी दृष्टिकोण में परिवर्तन ला देते हैं।) 'काव्य' और 'अकाव्य' तथा अच्छे और बुरे काव्य को स्वाभाविक रसग्राहिणी शक्ति द्वारा पहचानने में असमर्थ, 'वादों' की मदिरा पिए हुए आलोचक अच्छे साहित्यकारों को उपेक्षा या विरोध द्वारा मार डालते हैं और बुरे काव्य तथा साधारण लेखकों को थोड़े समय के लिए आसमान पर चढ़ा देते हैं।

साहित्य के इतिहास में हमारे उपर्युक्त कथन के निदर्शन दुर्लभ नहीं हैं। जब बाणभट्ट ने सुबन्धु की 'वासवदत्ता' के लिए कहा कि 'उसने अवश्य ही कवियों के अहंकार को चूर कर दिया है,' तो वह अपनी स्वाभाविक रसग्राहिणी शक्ति से काम न लेकर आलंकारिक आलोचकों के प्रभाव द्वारा विकृत बुद्धि से निर्णय कर रहा था। विशिष्ट आलोचकों को प्रसन्न करने के लिए ही उसने अपनी कृतियों में प्रसाद-गुण की हत्या कर डाली और उन्हें दुर्वह श्लेष के भार से लाद दिया। उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में जो कृत्रिम और दुरूह रचनाएँ हुई, उनका अधिकांश श्रेय (!) उस समय के आलोचकों को है। आश्चर्य है कि भारवि-जैसे महाकवि भी इन कृत्रिम वादों के प्रभाव से न बच सके। भारवि ने जो एकाक्षरी श्लोक या पंक्तियाँ लिखने की चेष्टा की है, और सूरदास ने जो कूटपद लिखे हैं, वे इस बात का निदर्शन हैं कि महाकवि भी अपनी रसग्राहिता को विकृत होने दे सकते हैं। जिस आलोचक ने सूर को सूर, तुलसी को शशि और केशव को उडुगण कहा, वह रसज्ञ नहीं था, ऐसी बात नहीं (अन्यथा वह सूर-तुलसी को कैसे पहचानता !); किन्तु उसकी सिद्धान्तवादिता ने उसकी रसग्राहिता को बहुत-कुछ अभिभूत कर रखा था।

प्रसिद्ध उपन्यासकार टॉल्स्टॉयने अपने जगत्प्रसिद्ध निबन्ध 'कला क्या है !' में लिखा है कि साधारण लोगों की अपेक्षा आलोचकगण कला की रसग्राहिता में सदैव पीछे रहे हैं। यही कारण है कि साहित्यकारों तथा अन्य कला-प्रेमियों ने प्रत्येक युग में आलोचकों की शिकायत की है। यही कारण है कि कीट्स और भवभूति-जैसे कवि अपने जीवन-काल में यथेष्ट प्रसिद्धि न पा सके। मूर्ति-कला और चित्रांकन के इतिहास में भी इस प्रकार के बहुत से उदाहरण मिलेंगे। विख्यात मूर्तिकार माइकेल एंजेलो अपने जीवन-कालमें दरिद्र रहा और दरिद्रता के भार से ही अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रतिभाशाली प्रकृति-चित्रक कांस्टेबिल सिर्फ इसलिए शीघ्र प्रसिद्ध नहीं हो

सका कि वह विशुद्ध प्राकृतिक दृश्यों के चित्र खींचता था, उन्हें किसी मानव-व्यापार से सम्बद्ध नहीं कर देता था। इसके विपरीत नाम मात्र के मानवी विषयों का प्रवेश कराने के कारण टर्नर नामक दूसरा प्रकृति-चित्रक सहज ही प्रसिद्ध हो गया। मनस्वी कांस्टेबिलने कहा—'मेरा विश्वास है कि चित्र-कला में विशुद्ध प्राकृतिक चित्रों के लिए भी जगह है।' प्रख्यात अमरीकी चित्रकार ह्विसलर के कला-सौन्दर्य को रस्किन-जैसा रसज्ञ आलोचक भी नहीं देख सका था। इसीलिए हम कहते हैं कि आलोचक का पहला महत्वपूर्ण वांछनीय गुण साहित्यिक कृति को पहचानने अथवा कलात्मक अनुभूति को ग्रहण करने की क्षमता है। 'आलोचना के सिद्धान्तों' का प्रयोग करने से पहले आलोचक को अपनी स्वाभाविक रसग्राहिता से यह जान सकना चाहिए कि कोई कृति साहित्य है या नहीं, और वह अच्छा साहित्य है या बुरा, साधारण कृति है या असाधारण। वह विशिष्ट आलोचना-सिद्धान्तों का मनन और स्वीकार करे, पर उनके द्वारा अपनी नैसर्गिक रसग्राहिता को विकृत न होने दे। हमारा विश्वास है कि आलोचना ग्रन्थों—विशेषतः आलोचना के सिद्धान्तों-के अध्ययनकी अपेक्षा थोड़ा-सा मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र और दर्शन पढ़ना काव्य-साहित्य को समझने के लिए ज्यादा अच्छी तैयारी है।

महाकवियों और महान् साहित्यकारों की कृतियों के अध्ययन से साहित्यिक अभिरुचि का सर्वाङ्गीण विकास हो सकता है। इस सम्बन्ध में आधुनिक पाठक और आलोचक अति प्राचीन अध्येताओं और साहित्य-शास्त्रियों से, जिन्हें कम महान् कृतियाँ प्राप्य थीं, अधिक भाग्यशाली हैं। किन्तु सभ्यता की प्रगति के साथ ही साहित्यिक व्यंजनाओं और व्यंजित भावों की जटिलता में भी वृद्धि हुई है, और उनके द्वारा जगाई गई जटिल प्रतिक्रियाओं को वाणी द्वारा प्रकट करना कहीं अधिक कठिन हो गया है। एक कविता को सुनकर रससिक्त हो जाना अथवा 'वाह' कर देना सरल है; किन्तु क्यों वह कविता हमें एक विशिष्ट ढंग से प्रभावित करती है, इसका उत्तर देना सहज नहीं है। किसी साहित्यिक कृति या अनुभूति की विशेषताओं को भाषा में व्यक्त कर सकना उन विशेषताओं के अनुभव से एक भिन्न और कठिन व्यापार है। कृति या अनुभूति की प्रभावोत्पादकता के हेतुओं की खोज हमें कुछ हद तक उस अनुभूति के बाहर कृति-विशेष के बौद्धिक और रागात्मक, मूर्त्त और अमूर्त्त उपादानों अर्थात् व्यंजक शक्तियों और प्रतीकों की ओर ले जाती है। हमारा काव्यानन्द आत्मनिष्ठ होता है; पर उसे जगानेवाले हेतुओं को समाज की भाषा में समाज-ग्राह्य रूप देना पड़ता है। इस प्रकार के प्रयत्न से ही आलोचन-क्रिया शुरू होती है।

क्या आलोचना के इस अंग का निर्वाह एक 'दृष्टिकोण' के बिना हो सकता है ? उत्तर यह है कि दृष्टिकोण का सर्वथा अभाव भले ही न रहे, पर उसको शांत भाव से उपयोग बचाया जा सकता है। आनन्द या विरक्ति के जिन हेतुओं की ओर आलोचक संकेत करता है, वे इतने सामान्य हो सकते हैं कि पाठकों को बिना किसी प्रकार की सिद्धान्तवादिता के ग्राह्य हो सकें। पर इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों व्यापारों को सर्वथा अलग नहीं रखा जा सकता। और जहाँ एक व्यापक और श्लाघ्य दृष्टिकोण का प्रभाव अनुभूति के विश्लेषण को अधिक स्पष्ट तथा मार्मिक बना देगा, वहाँ दूषित दृष्टिकोण का प्रभाव उसे अपूर्ण या एकांगी बना डालेगा। कुछ उदाहरणों से हमारा वक्तव्य स्पष्ट हो जायगा।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रकारान्तर से कहा है कि तुलसीदास राम-कथा के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सके हैं, जिससे सिद्ध होता है कि वे भावुक थे। उनकी यह उक्ति बिना किसी सिद्धान्तवादिता को अपनाए 'रामचरित-मानस' के अध्ययन से जगाई हुई एक लम्बी एवं व्यापक अनुभूति को सहज ही प्रकट कर देती है। किन्तु जब शुक्लजी तुलसी के मर्यादावाद के कारण उनकी प्रशंसा करते हैं, तब वे सिद्धान्तवादिता का आश्रय ले लेते हैं। कालिदास के निम्न दो पद्यों की परीक्षा कीजिए:—

(१) मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः।

[अर्थात्—मन्दबुद्धि या स्वल्प प्रतिभावाला होते हुये भी महाकवियों के यश का अभिलाषी मैं उसी प्रकार उपहास का पात्र बनूँगा जैसे ऊँचे लटकते हुए, लम्बे व्यक्ति द्वारा प्राप्य, फल की ओर लोभ से हाथ उठानेवाला बौना।]

(२) संचारिणी दीपशिखेव रात्री
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा
नरेन्द्र मार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः।

[अर्थात्—दीप-शिखा की भाँति संचार करती हुई पतिंवरा इन्दुमती जिस-जिस राजपुत्र को छोड़कर चल देती थी, वह राज-मार्ग के प्रासाद की भाँति विवर्ण (अन्धकाराच्छन्न या श्रीहीन) हो जाता था।]

ऊपर के दोनों पद्य सुन्दर हैं, और दोनों में बहुत ही व्यंजक उपमाओं का प्रयोग किया गया है। अतएव कोई आलंकारिक उनकी हृदयस्पर्शिता की व्याख्या करते हुए कह सकता है कि उसका हेतु उपमालंकार है। किन्तु वास्तव में यह विश्लेषण नितान्त अपूर्ण होगा। दोनों ही पद्यों की उपमाएँ

बहुत उपयुक्त है; किन्तु दूसरा पद्य पहले पद्य की अपेक्षा ज्यादा उच्च कोटि का काव्य है। पूछा जा सकता है, इसका क्या कारण है? दूसरे पद्य में अधिक रस है? हो सकता है, पर यह कथन भी हमें वस्तुस्थिति के तल तक नहीं ले जाता। बात यह है कि जहाँ पहले पद्य की उपमा हमारे सामने मात्र एक विनोदपूर्ण चित्र उपस्थित करती है, वहाँ दीपशिखा-सी इन्दुमती हमारी सौन्दर्य-वृत्ति का गम्भीर आलोड़न कर डालती है और उसके चल देने से राजाओं की मुख-कान्ति में होनेवाला द्रुत परिवर्तन हमें अपनी आकस्मिकता से अभिभूत कर लेता है। राजा-विशेष को छोड़कर सौन्दर्य-शिखा-सी इन्दुमती के चल देने की क्रिया कितनी सम्मोहन और कितनी प्रभावशालिनी है, कवि ने इसे एक ही घटना के दो भिन्न पहलुओं के दृष्टान्त से पूर्णतया व्यक्त कर डाला है। श्रीहर्ष का एक पद्य देखिए:—

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया
निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयी भुवां
नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत्।

[अर्थात्—राजा नल को देखकर उसके निरतिशय सौन्दर्य के कारण और उसके प्रति हृदय में लालसा जगने के कारण तीनों भुवनों की स्त्रियों को दोहरी काम-भ्रान्ति होती थी।]

यहाँ काव्य-सौन्दर्य का कारण न तो केवल 'भुवां-भ्रुवां' का अनुप्रास है और न मन्मथ-विभ्रम शब्द का दोहरा अर्थ (कामदेव का भ्रम और कामोद्रेक), जैसा कि शायद श्रीहर्ष को अभिप्रेत था। तीनों लोकों की सुन्दरियों के चित्त नल को देखकर चंचल हो जाते थे, यह विनोदपूर्ण व्यापक दृश्य ही मस्तिष्क को स्पर्श करनेवाला है। 'त्रिभुवन' के बदले 'जगत्-त्रयी' शब्द का प्रयोग इस व्यापकता पर गौरव दे देता है। यहाँ यह स्पष्ट है कि नल में 'कामदेव की भ्रान्ति' का आरोप नितान्त गौण घटना है, और वह परिस्थिति की गम्भीरता को कम करके उसे विनोद का पुट दे देती है। अनुप्रास का भी यही असर होता है। शब्दगत अनुप्रास सर्वत्र शब्द-साम्य में अर्थ-वैचित्र्य की उपस्थिति से हमें विस्मित या चमत्कृत करता है, जो गम्भीरता की भावना के लिए घातक है। यह श्रीहर्ष के उपयुक्त ही है। (इन्दुमती स्वयंवर की घटना एक गम्भीर बात है, और वह ज्यादा गहरी प्रतिक्रिया जगाती है।)

ऊपर के विश्लेषण में हमने जान बूझ कर किसी दृष्टिकोण को नहीं अपनाया है। यह भी स्पष्ट है कि किसी दूषित दृष्टिकोण (जैसे अलंकारवाद) को

अपना लेने पर यह विश्लेषण खराब हो सकता है। इस प्रकार का विश्लेषण करना सरल नहीं है, इसे हम एक उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे।

प्रेमचन्द की भाषा में एक विशेष ढंग की पूर्णता है। वह न तो अपने वक्तव्य को अस्पष्ट या धुँधला छोड़ती है और न वक्तव्य से परे किसी अव्यक्त या अनिर्वाच्य की ओर रहस्यमय संकेत ही करती है। उसकी इस विशद पूर्णता की व्याख्या भी जैनेन्द्रकुमार के मुख से सुनिए—"उनकी चुस्त-दुरुस्त भाषा पर, उनके सुजड़ित वाक्यों पर, मैं किसी से कम मुग्ध नहीं हूँ। बात को ऐसा सुलझाकर कहने की आदत मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है। बड़ी से बड़ी बात को बहुत उलझन के अवसर पर ऐसे सुलझाकर थोड़े से शब्दों में भरकर, कुछ इस तरह से कह जाते हैं, जैसे यह गूढ़, गहरी, अप्रत्यक्ष बात उनके लिये नित्य-प्रति घरेलू व्यवहार की जानी-पहचानी चीज हो। इस तरह जगह-जगह उनकी रचनाओं में, ऐसे वाक्यांश बिखरे पड़े हैं, जिन्हें जी चाहता है कि आदमी कण्ठस्थ कर ले। उनमें ऐसा कुछ अनुभव का मर्म भरा रहता है।...उनकी भाषा का क्षेत्र व्यापक है, उनकी कलम सब जगह पहुँचती है; लेकिन अँधेरे से अँधेरे में भी वह धोखा नहीं देती। वह वहाँ भी सरलता से अपना मार्ग बनाती चली जाती है। स्पष्टता के मैदान में प्रेमचन्द सहज अविजेय हैं। उनकी बात निर्भ्रान्त, खुली, निश्चित होती है।" (प्रेमचन्द की कला)

जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द की भाषा में किसी विशेषता का अनुभव किया है और उस विशेषता को समझने योग्य भाषा में व्यक्त करने के लिए, पाठक देखें, उन्हें कितना परिश्रम करना पड़ा है। सम्भवतः उनका अन्तिम वाक्य सबसे अधिक व्यंजक है। वह प्रेमचन्द की भाषा के साथ ही उनके वक्तव्य की विशेषता की ओर भी इंगित करता है। वास्तव में शैली की विशेषता अधिकतर वक्तव्य विषय की ही विशेषता होती है। दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहता है। प्रेमचन्द दुनिया को मनुष्य के कर्म जगत से सम्बद्ध करके, व्यावहारिक दृष्टिकोण से, देखते हैं; इसीलिए उनकी उक्तियों में इतनी सफाई और अनुभूति भरी रहती है।

पाठकों ने देखा कि जैनेन्द्र-जैसे तीखी मनोवैज्ञानिक दृष्टिवाले लेखकों को भी अनुभूत साहित्यिक विशेषताओं को व्यक्त करने में आयास होता है। इससे वे अनुमान कर सकते हैं कि इस प्रकार की योग्यता का सम्पादन कितना कठिन है। किन्तु आलोचक बनने के लिए यह योग्यता अनिवार्य है। इसके अभाव में आलोचक कृति-विशेष के बारे में आलोचना-शास्त्रों के चुने हुए शब्द (उपमा, उत्प्रेक्षा, रस, ध्वनि इत्यादि) अथवा कुछ रटी

हुई बातें कहने के अतिरिक्त कुछ न कर सकेंगे। बिहारी के निम्नलिखित दोहे में, जो 'सतसई' के सर्वश्रेष्ठ दोहों में है, क्या विशेषता है, यह आप यदि हमसे पूछें, तो हम शायद कोई उत्तर न दे सकेंगे, यद्यपि उसके करुण सौन्दर्य का हमने बार-बार अनुभव किया है। दोहा इस प्रकार है :—

" स्याम-सुरतिकर राधिका तकति तरनिजा-तीर।
अँसुवन करत तरौंस को खनिक खरौंहौ नीर॥

इसी प्रकार टेनीसन की निम्न पंक्तियों के जादू का क्या रहस्य है, यह कोई संगीत-प्रेमी ही शायद बता सके :—

Music that gentlier on the spirit lies
Than tired eyelids upon tired eyes.

एक बात और। काव्य-साहित्य की विशेषताओं को मापा में प्रकट करने के लिए 'जीवन' से सम्बद्ध सभी शास्त्रों का कुछ ज्ञान अपेक्षित है। तीसरी योग्यता, मूल्यांकन के दृष्टिकोण, के सम्पादन के लिए तो यह और भी आवश्यक है। किन्तु इस पर विस्तार से अगले लेख में विचार किया जायगा।

(फर्वरी, १९४४)

अतिरिक्त टिप्पणी

लेखक का यह आलोचना-सम्बन्धी पहला निबन्ध है। हमारा अनुमान है कि वह आलोचना नामक व्यापार का प्रारम्भिक परिचय देने के लिये उपयुक्त है। अन्यत्र हमने आलोचना को "रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या" कहा है।

यहाँ पाठक दो-एक बातें नोट कर लें। 'रघुवंश' के पद्यों में अलंकार (उपमा) का प्रयोग वस्तु-चेतना को विशद बनाने के लिये हुआ है और रस का पोषक मात्र है। श्री हर्ष के पद्य में 'दोहरी काम-भ्रान्ति' तथा 'भुवां-भुवां' में संनिहित अलंकार उक्ति-चातुर्य के द्योतक अतएव चमत्कार के विधायक हैं। 'तीनों भुवनों की स्त्रियों' के उल्लेख में जो अतिशयोक्ति का अंश है वह भी वाक्पटुता या विदग्धता का परिचायक है। निबंध में कहा गया है कि यह चमत्कार वस्तुस्थिति की गम्भीरता को कम कर देता है। यह मन्तव्य विचारणीय है।

आलोचना का अधिकार—२

पिछले लेख में हमने कहा है कि आलोचक में रस-ग्रहण की क्षमता के अतिरिक्त कृति-विशेष को रसमय (या नीरस) बनानेवाले उपादानों की ओर संकेत करने की योग्यता भी अपेक्षित है। वस्तुतः यह दूसरी योग्यता ही साधारण पाठक को आलोचक में परिवर्तित करने लगती है। इस योग्यता के सम्पादन में अच्छे आलोचकों की कृतियाँ अवश्य ही सहायक हो सकती हैं। अपनी विवेचना में आगे बढ़ने से पहले हमें अनुभूति के स्वरूप का कुछ स्पष्टीकरण कर लेना चाहिये। अनुभूति शब्द पहली दृष्टि में पूर्णतया आत्मनिष्ठ (Subjective) भावों का द्योतक मालूम पड़ता है; अनुभूति या अनुभव मन का विकार है। किंतु वास्तव में साहित्यिक अनुभूति मानसिक विकार मात्र नहीं है, उसका एक वस्तुपाती पक्ष (Objective side) भी होता है। जैसा कि हमने पूर्व लेख में संकेत किया था, यह अनुभूति रागबोधात्मक होती है। उसमें भावोद्रेक अथवा आवेगात्मक स्फुरण रहता है अवश्य; पर साथ ही द्रष्टा से भिन्न बाह्य वस्तु-समष्टि की चेतना या दर्शन भी रहता है। इसलिए साहित्यिक अनुभूति का विश्लेषण सिर्फ मानस-शास्त्र का आत्मपाती (Subjective) विश्लेषण नहीं है, वह साहित्य-विशेष के वक्तव्य का विश्लेषण भी है। वस्तुतः दृश्यगत विशेषताओं की निरपेक्षता में द्रष्टा की आवेगात्मक प्रतिक्रिया का विश्लेषण हो ही नहीं सकता। जहाँ मन का आवेग परिपक्व होता है, वहाँ उसके स्वरूप का कारण बोध या चेतना की विषयभूत बाह्य परिस्थितियों में रहता है। जिस आवेग का प्रचुर बाह्य आधार नहीं रहता, उसके आश्रयभूत व्यक्ति को 'सेण्टीमेण्टल' कहा जाता है। सेण्टीमेण्टल साहित्य उत्तम नहीं माना जाता; किंतु सेण्टीमेंट का भी कुछ-न-कुछ बाह्य हेतु होता है। हमारा अभिप्राय यह है कि साहित्यिक अनुभूति में बोध या ज्ञान का अंश अवश्य रहता है, भले ही कहीं-कहीं उस बोध का विषय बाह्य परिस्थितियाँ न होकर स्वयं आंतरिक विकार हों। उदाहरण के लिए जब राम कहते हैं—

> विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
> प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः, किमु मदः

तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च संमीलयति च (उत्तर-रामचरित)

अर्थात् 'यह निश्चय करना कठिन हो रहा है कि सुख है या दुख, प्रमोह (मूर्छा) है या निद्रा, शरीर में विष का प्रसार है या मद का; तुम्हारे (सीता के) प्रत्येक स्पर्श में इन्द्रियों को निश्चेष्ट बना देनेवाला यह विकार मेरी चेतना को क्षुब्ध एवं गुप्त (उल्लसित !) बना रहा है'—तब हमारे बोध का विषय राम की विभिन्न मानसिक दशाएँ होती हैं।

इस रागबोधात्मक अनुभूति का विश्लेषण एक बात है और उसका मूल्यांकन दूसरी। विभिन्न अनुभूतियाँ कम और अधिक अच्छी या महत्त्वपूर्ण होती हैं। कम अच्छी अनुभूति की अच्छाई के कुछ हेतु (अथवा उपादान) होते हैं। इसी प्रकार अधिक अच्छी अनुभूति के भी हेतु या उपादान होते हैं। कम अच्छी अनुभूति में किसी बुराई का मेल रहता है, यह नहीं। जिस प्रकार दो कर्म, दोनों ही अच्छे होते हुए भी, न्यूनाधिक महत्वपूर्ण हो सकते हैं, उसी प्रकार दो अनुभूतियाँ भी। दिन-भर के भूखे को भोजन देना अच्छा काम है किंतु किसी डूबते हुए को बचा लेना ज्यादा अच्छा काम है। इसी प्रकार कालिदास के 'उद्बाहुरिव वामनः' से प्राप्त होनेवाली अनुभूति की अपेक्षा 'दीपशिखा-इन्दुमती' में सन्निहित अनुभूति अधिक श्रेष्ठ है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार का मूल्यांकन किस मापदण्ड या दृष्टिकोण से होना चाहिए।

कुछ विवेचकों का विचार है कि आलोचना में सिर्फ अनुभूति का विश्लेषण ही रहना चाहिए। प्रभाववादियों (Impressionists) के अनुसार आलोचक को सिर्फ यह बताना चाहिए कि उसे कृति-विशेष कैसी लगती है या लगी है। इसका अर्थ यह हुआ कि आलोचक को अनुभूति के आत्मपानी पक्ष का विश्लेषण या स्पष्टीकरण कर देना चाहिए। निर्णयात्मक आलोचना के पक्षपाती इससे सहमत नहीं हैं। किन्तु स्वयं निर्णयात्मक आलोचना किस प्रकार की होगी? प्रभाववाद की समीक्षा करते हुए पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'यह तो अवश्य है कि काव्य में अनुभूति या प्रभाव ही मुख्य है। पर इस अनुभूति को एक हृदय से दूसरे हृदय तक पहुँचाना रहता है, अतः साधनों की अपेक्षा होती है। निर्णयात्मक आलोचना इन साधनों की उपयुक्तता की इस दृष्टि से परीक्षा करती है कि जब साधन ही ठीक न होंगे, तब साध्य सिद्ध कहाँ से हो सकता है।' (काव्य में रहस्यवाद, पृ० ६५)। शुक्लजी का आशय स्पष्ट नहीं है। पहले वाक्यों में 'अनुभूति' और 'प्रभाव' का एक अर्थ में प्रयोग चिन्त्य है। सम्भवतः शुक्लजी का अभिप्राय यह है कि निर्णयात्मक आलोचना इस बात का विचार करती है कि साहित्य-

कार ने अपनी अनुभूति को प्रकट करने के लिए जिन साधनों का आश्रय लिया है, वे उपयुक्त हैं या नहीं। अमरीकी आलोचक स्पिनगार्न ने, जिसे शुक्लजी ने इस स्थल में उद्धृत किया है, इसी बात को अधिक स्पष्ट रूप में इस प्रकार कहा है—'आलोचक को देखना चाहिये कि कलाकार क्या करना (अर्थात् प्रकट करना) चाहता था और उसने उसे किस प्रकार किया है।'

किंतु हम इस मत से सहमत नहीं हैं। हमारी समझ में कृति विशेष का ठीक मूल्यांकन सिर्फ यही देखने से नहीं हो सकता कि कलाकार अपनी अभिमत अनुभूति को कितनी सफलता से व्यक्त कर सका है; हमें स्वयं उस अनुभूति का मूल्य देखना पड़ेगा। वस्तुतः पहले प्रकार का निर्णय सम्भव भी नहीं है। हमारा परिचय केवल उस अनुभूति से रहता है जो भाषा के माध्यम से हमें प्राप्त हो रही है। भाषागत अनुभूति से भिन्न किसी मूल अनुभूति तक हमारी पहुँच नहीं होती। कवि क्या कहना चाहता था, इसे जानने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है; उसने क्या कहा है, इसी को हम जान सकते हैं। इस कथित या अभिव्यक्त अनुभूति के भीतर साध्य और साधन का भेद करना नितान्त दुष्कर है। हाँ, हम यह अवश्य देख सकते हैं कि जो कृति हमारे सम्मुख उपस्थित है, उसमें एकता अथवा सामंजस्य है या नहीं। जिस अनुभूति का हमें मूल्यांकन करना चाहिये, वह प्रस्तुत अभिव्यक्त अनुभूति ही हो सकती है।

कलाकार अपनी बात कहने में सफल हुआ है या नहीं, यह मानदण्ड एक दूसरी दृष्टि से भी अपूर्ण है। एक साधारण बात को पूर्ण सफलता से कह देने की अपेक्षा एक असाधारण या जटिल बात को अपेक्षाकृत कम सफलता से कह सकना अधिक प्रशंसनीय हो सकता है। हमने पहले लेख में कालिदास के जिन दो पद्यों को उद्धृत किया है, उन दोनों में ही कवि अपनी बात को पूर्ण सफलता से व्यक्त कर सका है; किंतु इसलिए दोनों पद्यों का मूल्य बराबर नहीं हो सकता। यदि कहने के ढंग (शैली) और कथन के विषय (वक्तव्य अर्थ) को साहित्य के दो भिन्न तत्त्व माना जाये, तो उक्ति-विशेष

कि पहली कृति या अनुभूति गम्य के अधिक समीप है ? या अधिक सुन्दर है ? अथवा अधिक ऊँची या उदात्त है ? किंवा अधिक रमणी है ? अथवा अधिक तीव्र या प्रशस्त है ? काव्यानुभूति के कम या अधिक ग्राह्य होने का क्या सर्वत्र एक ही कारण होता है या अनेक ? क्या कालिदास और शेक्सपीयर, होमर और वाल्मीकि एक ही सामान्य गुण के कारण बड़े कलाकार हैं या भिन्न गुणों के कारण ?

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि साहित्यिक मूल्यांकन के लिए उचित दृष्टिकोण या मानदण्ड प्राप्त कैसे किया जाय ? इस प्रश्न का दूसरा रूप यह भी हो सकता है कि विभिन्न दृष्टिकोणों या मानदण्डों के औचित्य की परीक्षा कैसे की जाय ? जिस दृष्टिकोण या मानदण्ड को हम साहित्यिक कृतियों को जाँचने की कसौटी बनाना चाहते हैं, स्वयं उसकी कसौटी क्या है ? हम यह कैसे जान सकते हैं कि साहित्यिक मूल्यांकन का कोई पैमाना स्वयं आप भी ठीक है या नहीं ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर सम्बद्ध है। मूल्यांकन का वही मानदण्ड ठीक हो सकता है जो उन कृतियों के महत्त्व की, जिन्हें रसग्राही पाठकों ने एकमत होकर बड़ा स्वीकार कर लिया है, व्याख्या कर सके। किसी भी साहित्यिक दृष्टिकोण को यह स्पष्ट कर सकना चाहिए कि क्यों कालिदास और भवभूति, सूर और तुलसी अथवा शेक्सपीयर और दाँते महाकवि हैं। जो दृष्टिकोण रसज्ञ पाठकों के सार्वभौम अनुभव की व्याख्या नहीं कर सकता, वह कदापि ग्राह्य नहीं हो सकता। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम साहित्य में मौजूदा स्थिति को कायम रखने के पक्षपाती हैं। हमारा कहना यही है कि अन्ततः किसी साहित्यिक वाद या दृष्टिकोण की कसौटी रसज्ञ पाठकों का हृदय ही है। जिस दृष्टिकोण से हमें यह समझने में सहायता नहीं मिलती कि क्यों हमारे हृदय को तीव्रता से स्पर्श करनेवाली कोई कृति श्रेष्ठ है और क्यों कोई दूसरी कृति उसकी अपेक्षा निकृष्ट है, वह ठीक दृष्टिकोण नहीं हो सकता; क्योंकि किसी भी सामान्य कथन या सिद्धान्त का उद्देश्य विशेष वास्तविकताओं के स्वरूप को बोधगम्य बनाना होता है।

मतलब यह है कि आलोचना-शास्त्र एक आगमनात्मक शास्त्र है, इसलिए उसके सिद्धान्तों का विस्तार साहित्यिक अनुभूतियों- रूपी वास्तविकताओं के आधार पर ही हो सकता है। जो यथेष्ट साहित्यिक अनुभव के अभाव में 'वादों' या साहित्यिक सिद्धान्तों का आविष्कार और प्रचार करने दौड़ पड़ते हैं, वे प्रायः यह भी नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। जिस प्रकार नीति-शास्त्र मानव जाति के नैतिक अनुभवों की व्याख्या का प्रयत्न है और

सौन्दर्य-शास्त्र मानवता की सौन्दर्यानुभूति को बोधमय बनाने की चेष्टा है, उसी प्रकार आलोचना-शास्त्र मनुष्य की साहित्यिक अनुभूतियों को समझाने का प्रयत्न-मात्र है। आलोचना का सच्चा सिद्धान्त वही है जो हमें अपनी मूक रसानुभूति को वाणी में व्यक्त करने की शक्ति दे।

अन्य कोटि के अनुभवों की भाँति मनुष्य-जाति का साहित्यिक अनुभव भी बढ़ता रहता है, इसीलिए उसे समझने के प्रयत्न-रूप साहित्यिक सिद्धांतों में भी परिवर्तन होता रहता है। यही बात नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी लागू है। भौतिकशास्त्र की विषयभूत वास्तविकताओं की भाँति इन शास्त्रों की वास्तविकताएँ स्थिर या प्रगतिहीन नहीं हैं; उनके स्वरूप और संख्या में परिवर्तन और वृद्धि होती रहती है। किन्तु इस वस्तुस्थिति से हमें निराश नहीं होना चाहिए। वस्तुतः आधुनिक अध्येताओं के सम्मुख इन सभी क्षेत्रों में प्रचुर सामग्री विद्यमान है, जिसका अनुशीलन या उपयोग करके वे नैतिक जीवन, साहित्य और सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में काफ़ी स्थायी सत्यों का आविष्कार कर सकते हैं। सामग्री की कमी नहीं है, कमी है धैर्यपूर्वक अध्ययन करनेवाले और प्रतिभाशाली विचारकों की जिसके कारण आज चिन्तन के सब क्षेत्रों में अराजकता-सी छाई हुई है। आज तरह-तरह के अनुसन्धानों ने मनुष्य के कल्पना-नेत्रों के आगे वास्तविकताओं का समुद्र-सा बहा दिया है, जिनकी व्याख्या करने में मानव-बुद्धि कुण्ठित और भ्रान्त अनुभव कर रही है।

साहित्यिक सिद्धान्तों में परिवर्तन क्यों होता है? सिद्धान्तों का काम या उपयोग कला-कृतियों की महत्ता की व्याख्या करना है, उसे उड़ा देना नहीं। जब किसी नवीन कला-कृति की अनुभवगोचर महत्ता प्रचलित सिद्धान्तों द्वारा व्याख्यात नहीं होती, तब उसकी व्याख्या के लिए नए सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे अवसरों पर जहाँ साहित्य के असली रसज्ञ प्रचलित सिद्धान्तों को अपूर्ण कहकर छोड़ देते हैं, वहाँ रूढ़िवादी आलोचक नवीन कला-कृति को ही दूषित ठहराने लगते हैं। इस प्रकार के आलोचक सहज ही प्रगतिशील शक्तियों के विरोधी बन जाते हैं। उनमें प्रायः महत्त्वपूर्ण कला-कृति को पहचानने की क्षमता नहीं रहती, और वे कृति-विशेष के कुछ बाह्य लक्षण देखकर उसे अच्छी-बुरी कहने के अभ्यस्त हो जाते हैं।

मनुष्य द्वारा आविष्कृत प्रायः सभी सिद्धान्त अपूर्ण हैं। वे वास्तविकताओं की व्याख्या के अपूर्ण प्रयत्न हैं, सत्य की अधूरी अभिव्यक्ति हैं। ऐसी दशा में किसी भी सिद्धान्त के पूर्ण सत्य होने का दावा नहीं किया जा सकता। परीक्षक लोग केवल यही देख सकते हैं कि एक सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्त की अपेक्षा

वास्तविकताओं की ज्यादा मात्रा व्याख्या प्रस्तुत करता है। न्यूटन के आकर्षणवाद की अपेक्षा आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद अनुभव-जगत् को ज्यादा बुद्धिगम्य बनाता है; वह अधिक वास्तविकताओं की व्याख्या कर डालता है। प्रायः अधिक मान्य सिद्धान्तों में अपेक्षाकृत कम पूर्ण सिद्धान्तों का सत्य समाविष्ट हो जाता है।

अब तक हमने सिर्फ यह इंगित करने की चेष्टा की है कि साहित्यिक आलोचना का काम कितना जटिल है और साहित्य के आलोचक में क्या-क्या योग्यताएँ होनी चाहिएँ। जिस प्रकार सौंदर्य और सदाचार के मानों की खोज निकालना कठिन है, उसी प्रकार साहित्यिक उत्कर्ष के मानों की भी। इन सभी कामों के लिए उच्चकोटि की प्रतिभा और लम्बा चिंतन अपेक्षित है। यहाँ हम संक्षेप में निर्देश करेंगे कि स्थूल रूप में साहित्यिक मूल्यांकन का क्या मान हो सकता है।

चूँकि साहित्यिक अनुभूति रागबोधात्मक होती है, इसलिए उसके मूल्यांकन के लिए उसके रागात्मक और बोधात्मक दोनों तत्वों पर ध्यान देना चाहिये। (१) दो साहित्यिक कृतियों में उस कृति को अधिक श्रेष्ठ कहना चाहिए जो हममें अधिक तीव्र या गहरी रागात्मक प्रतिक्रिया जगाती है—जिससे प्राप्त होने वाली अनुभूति अधिक आवेगमयी है। (२) दो कृतियों में उसे अधिक श्रेष्ठ कहना चाहिए, जो हमारी बोधवृत्ति का अधिक उन्मेष करती है—जो हमें अनुभव-जगत् के अधिक तत्वों का दर्शन या स्पर्श कराती है। संक्षेप में कलात्मक अनुभूति के उत्कर्ष के यही मानदण्ड हैं, अर्थात् तीव्रता एवं गहराई और व्यापकता।

साहित्य का मानदण्ड

साहित्यिक मूल्यांकन की चेष्टा साहित्य-सृष्टि के साथ ही लगी चली आयी है। और इस प्रश्न का कि साहित्य का मूल्यांकन कैसे हो समाधान करने की कोशिश भी उक्त चेष्टा के समानान्तर चलती रही है। इन चेष्टाओं का इतिहास एक बात को स्पष्ट रूप में प्रमाणित करता है, यह कि मूल्यांकन के प्रकार एवं मान बदलते रहे हैं। संभवतः यही कथन नैतिक तथा अन्य प्रकार के मानों के सम्बन्ध में लागू है और हम देखेंगे कि विभिन्न क्षेत्रों के मानों में परिवर्तन होने के नियम अन्योन्य से सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं।

यह स्पष्ट है कि श्रेष्ठ साहित्य अथवा सदाचार के नियम साहित्यिक कृतियों एवं श्रेष्ठ आचरण-सम्बन्धी अनुभव के बाद बनाए गए। 'रामायण' अथवा 'महाभारत' के प्रणयन के बाद ही महाकाव्य के स्वरूप और उसके नियमों की धारणा या चेतना जगी होगी और शुभाशुभ आचार तो समाज एवं सभ्यता के जन्म के साथ ही लगा हुआ है। ध्यान देने की बात यह है कि श्रेष्ठ काव्य के नियामक नियमों की धारणा में बराबर परिवर्तन होता आया है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार साहित्यिक प्रबन्ध का नायक धीरोदात्त अथवा धीर-ललित, सुन्दर, शिष्ट तथा सदाचारी होना चाहिए किन्तु आज इस धारणा में परिवर्तन हो गया है। कहा जा सकता है कि आज का उपन्यास प्राचीन महाकाव्य का ही उत्तराधिकारी अथवा गद्य-संस्करण है और उसमें सब प्रकार के नायक-नायिकाओं एवं पात्रों का वर्णन रहता है। वस्तुतः आधुनिक उपन्यास का विषय मानवता की नितान्त जटिल सभ्यता और जीवन है, विशेष व्यक्तियों का जीवन-वृत्त नहीं, जैसा कि उसकी बाह्य रूप रेखा से प्रतीत होता है। इसी प्रकार काव्य-सम्बन्धी नियमों में भी काफी परिवर्तन हो गया है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि आज जहाँ हमारी साहित्य-सम्बन्धी धारणा एवं साहित्य-सृष्टि के नियमों में बहुत कुछ विपर्यय हुआ है—और आज भी इनके सम्बन्ध में मतैक्य प्राप्त नहीं है—वहाँ प्राचीन कलाकारों एवं उनकी कृतियों के मूल्य में, स्वयं हमारी दृष्टि में, विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। आज भी हम वाल्मीकि और कालिदास को महाकवि मानते हैं; इसी प्रकार यूनान के प्राचीन नाटककारों तथा कवियों की महत्ता भी असंदिग्ध है। अवश्य ही इस नियम के

अपवाद हैं, माघ और बाणभट्ट अथवा श्रीहर्ष आज हमें उसी रूप में उतने बड़े नहीं दिखाई देते जैसे कि वे अपने युग के आलोचकों को लगते थे। किन्तु इसका कारण शायद यही है कि यह कलाकार कभी-कभी आन्तरिक प्रेरणा की अपेक्षा आलोचना-शास्त्र के नियमों पर अधिक निर्भर रहे। सम्भवतः उस काल के भी अधिकांश सहृदय पाठक जानते थे कि दुरूह श्लेष आदि के बाँधने में कुशल यह कवि-गण वाल्मीकि और कालिदास के समकक्ष नहीं है।

यदि साहित्य-सृष्टि के नियम इतने परिवर्तनशील हैं और यदि अपेक्षाकृत श्रेष्ठ कृतियों की महत्ता सार्वकालिक है तो नियमों के बदले उन कृतियों को ही कलात्मक श्रेष्ठता का मापक क्यों न मान लिया जाय? वस्तुतः अज्ञातरूप से प्रायः सभी आलोचक उक्त मानदण्ड का प्रयोग करते हैं; आवश्यकता इस बात की है कि हम सचेतभाव से उसे ग्रहण करलें और उसे प्रयुक्त करने के नियमों को स्पष्टता से समझ लें।

उक्त मानदण्ड को ग्रहण करने का अर्थ मूल्यांकन-सम्बन्धी किन मान्यताओं का विरोध अथवा परित्याग करना है यह हम शीघ्र ही देखेंगे। किन्तु इससे पहले हम यह देखने की चेष्टा करें कि मूल्यांकन का यह पैमाना किन्हीं दूसरे क्षेत्रों में प्रयुक्त होता है या नहीं। वस्तुतः इस पैमाने का व्यवहार जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में बराबर होता है। मूल्यांकन का उद्देश्य एक कोटि के पदार्थों की तुलना कर सकना है—जैसे हम वाल्मीकि और होमर अथवा शेक्सपियर और कालिदास किंवा बुद्ध और ईसा की तुलना करते हैं। तुलित पदार्थों, कृतियों या व्यक्तियों, का आपेक्षिक मूल्य आंकते समय हमारी दृष्टि प्रायः किसी आदर्श पर टिकी रहती है। उत्तर व्यक्तियों अथवा कृतियों के आविर्भाव के साथ ही हमारा यह आदर्श भी बदल जाता है और हमारा मूल्यांकन नवीन आदर्श के अनुकूल चलने लगता है। यही नहीं, एक ही काल में हमारे सामने अनेक ऊँचे आदर्श रह सकते हैं जिनकी सहायता से हम तरह-तरह के व्यक्तियों अथवा कृतियों का महत्व आंक सकते हैं। कारण यह है कि महत्ता एक ही प्रकार की नहीं है। जहाँ बुद्ध और अशोक बड़े दिखाई देते हैं वहाँ नेपोलियन और बिस्मार्क भी हमें अभिभूत किये बिना नहीं रहते; हम हिटलर और महात्मा गान्धी दोनों की महत्ता से चकित होते हैं। इसी प्रकार 'मुद्राराक्षस' और 'शाकुन्तल' दोनों हमारी कल्पना का स्पर्श करते हैं।

प्रत्येक युग में पारखियों को किसी भी क्षेत्र में उच्चतम आदर्श पर दृष्टि रखनी पड़ती है। नैतिक श्रेष्ठता पर विचार करते हुए आज हम महात्मा गान्धी को नहीं भूल सकते। यही नहीं, परवर्ती युगों में, यदि इतिहास नष्ट

नहीं हो गया है, तो पिछले युगों के आदर्शों की भीप्सा न रखना होता है। वस्तुतः देश और काल दोनों ही में होनेवाला दृष्टि-प्रसार हमारे मूल्यांकन को प्रभावित करता है। यही कारण है कि जातीय एवं राष्ट्रीय अभिमान के रहते हुए भी योरपीय इतिहास से परिचित होने के बाद हम राणाप्रताप तथा शिवाजी को सीजर एवं नेपोलियन का समकक्ष घोषित करते हुए संकोच का अनुभव करते हैं। हमारे देश में भी विजय सैन्य-संचालक वीर उत्पन्न हुए हैं, इसके निदर्शन पाने के लिए हम प्रायः अपने देश के प्राचीन इतिहास की ओर देखने लगते हैं। अथवा हम विभिन्न महत्ताओं की पारस्परिक तुलना करके यह निष्कर्ष निकालने लगते हैं कि यह महत्ता जिसकी अभिव्यक्ति हमारे ऐतिहासिक पुरुषों में हुई है अधिक उदात्त अथवा श्लाघ्य है। इस प्रकार की तुलना में भी महत्वशाली व्यक्ति एवं कृतियाँ स्वयं एक-दूसरे का मापक बन जाती हैं। ऊपर के निदर्शन से यह भी स्पष्ट है कि मूल्यांकन के लिए केवल अपने युग पर दृष्टि रखना पर्याप्त नहीं होता अपितु मानवता के उपलब्ध अतीत को भी सांस्कृतिक आवेष्टन (Cultural Environment) का भाग मान लेना पड़ता है। यह बात साहित्यिक मूल्यांकन के क्षेत्र में उतनी ही लागू है जितनी कि किसी दूसरे क्षेत्र में। बल्कि कुछ दृष्टियों से साहित्यिक मूल्यांकन में अतीत पुरुषों पर ध्यान रखना अधिक समुचित है क्योंकि साहित्यानुशीलन हमारी जिस रागात्मिका-वृत्ति अथवा भावुक अन्तःप्रकृति को प्रभावित करता है वह हमारे बहिरंग आचार एवं बौद्धिक विश्वासों की अपेक्षा कम परिवर्तनशील है।

जैसा कि हम संकेत कर आए हैं, मूल्यांकन सम्बन्धी हमारा यह मन्तव्य कतिपय प्रचलित धारणाओं के विरुद्ध पड़ता है। एक ऐसी धारणा यह सिद्धान्त है कि साहित्य की परीक्षा भीतर से होनी चाहिए, बाहर से नहीं। उदाहरण के लिए आई० ए० रिचर्ड्स ने किसी आलोचक की आलोचना करते हुए लिखा है कि—

> This type of adverse criticism, objection brought to a poem for not being quite a different poem, without regard paid to what it is as itself, ought to be less common.........no poem can be judged by standards external to itself (Practical Criticism)

अर्थात् किसी कविता को इसलिए बुरा नहीं कहा जा सकता कि वह अपने से भिन्न किसी दूसरी भाँति की कविता नहीं। कोई भी कविता अपने से बहिरंग मानों द्वारा नहीं आँकी जा सकती। अभिव्यञ्जनावादी सिद्धान्त...

कुछ ऐसा ही मत है। उसके अनुसार आलोचक को शास्त्रिक नियमों अथवा मानों का प्रयोग करने के पहले यह देखने की चेष्टा करनी चाहिए कि कलाकार क्या व्यक्त करना चाहता था और वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि इस दृष्टिकोण में सत्य का अंश है, यद्यपि उस अंश को बुद्धि-गम्य भाषा में प्रकट करना सरल नहीं है। कालिदास के 'मेघदूत' को यदि हम इस दृष्टि से आँकना चाहें कि उसने दलितों के उद्धार में कितनी सहायता की है, एवं गोर्की या कुप्रिन की कृतियों की तुलना में उसका क्या स्थान है, तो यह हमारी मूर्खता होगी। इसी प्रकार यह प्रश्न करना कि मनोवैज्ञानिक चित्रण की दृष्टि से 'शाकुन्तल' श्रेष्ठ है अथवा 'हैमलेट' समीचीन नहीं है। किन्तु किसी भी दशा में हमें यह प्रश्न तो उठाना ही होगा कि काव्य-विशेष में अभिव्यक्त अनुभूति कितनी महत्वपूर्ण है। और इस प्रश्न का उत्तर केवल यह संकेत कर देना नहीं है कि कलाकार अपने को व्यक्त करने में कहाँ तक समर्थ हुआ है। उसकी अभिव्यक्तिगत सफलता का कारण अनुभूति का साधारण अथवा परम्परामुक्त होना भी हो सकता है। प्रश्न यह है कि हम कलाकार की उद्दिष्ट अथवा अभिव्यक्त अनुभूति का मूल्यांकन किस प्रकार करें? अथवा यह मान लिया जाय कि इस प्रकार का मूल्यांकन अभीष्ट नहीं है? किन्तु उस दशा में हम एक सफल पद्य-निर्माता तथा शेक्सपियर में किस प्रकार मूल्यगत भेद कर सकेंगे।

दूसरी धारणा जो हमारे मन्तव्य के विरुद्ध पड़ती प्रतीत होती है यह है कि किसी कला-कृति के मूल्यांकन में हमें मुख्यतः यह देखने की कोशिश करनी चाहिए कि उसका अपने युग से क्या सम्बन्ध है। ऐतिहासिक एवं समाज-शास्त्रीय आलोचना मुख्यतया कवि के युग, वातावरण, जाति (Race) एवं कलासम्बन्धी मान्यताओं का अन्वेषण करती है। अवश्य ही इस प्रकार की आलोचना हमें यह समझने में सहायता देती है कि क्यों विशिष्ट कलाकृति ने विशिष्ट रूप धारण किया, अथवा किन शक्तियों द्वारा उसका प्रस्तुत रूप निर्धारित हुआ; पर वह आलोचना उस कृति का मूल्य आँकने में भी सहायक होती है, इसमें सन्देह है। किन्तु 'युग' को कला का मापक बनाने के पक्षपाती एक दूसरे ढंग की कसौटी भी सामने रखते हैं—क्या कलाकार ने अपने युग अथवा परिस्थितियों से प्रगतिशील समझौता किया है, क्या वह उन शक्तियों का प्रभावपूर्ण निर्देश कर पाया है जो उसके युग को आगे बढ़ा सकती है? इस कथन के बाद कि आलोचक को गुण-दोष-विवेचन से आगे बढ़कर रचयिता के मन को परखना चाहिए, अज्ञेय कहते हैं—'हमारी समझ में कलाकार के मन की परख के लिए

यह देखना आवश्यक है कि उसकी कृति में उसका व्यक्तित्व कैसा है, यथार्थ के आघात के प्रति उसका रवैया क्या है, उसमें क्या प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है ?' (प्रगतिवाद और साहित्यकार)

इस धारणा में भी बहुत-कुछ सत्य है, पर साथ ही यह कुछ अपूर्ण और भ्रामक भी है। मन की भाँति कला भी जीवन के प्रति प्रतिक्रिया होती है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जीवन एवं युग दोनों ही की व्याख्या करना सरल नहीं है। बहुत से प्रगतिवादी आलोचक युग को मनुष्यों के आर्थिक एवं सामाजिक अथवा वर्तमान सम्बन्धों का पर्याय समझते हैं। किन्तु हमारे युग अथवा जीवन में मानवता का सम्पूर्ण इतिहास, समाया हुआ है और मनुष्य की सारी आकांक्षाएँ, उसकी हार और जीत, उसके संशय और सन्देह, प्रश्न और समाधान सब उसमें सन्निविष्ट हैं। इस दृष्टि से मानवी जीवन निरन्तर अधिक जटिल एवं विपुल होता जा रहा है। इस जीवन की कलात्मक व्याख्या का प्रयत्न भी अधिकाधिक संश्लिष्ट होता जा रहा है और उसके अनुष्ठान में कलाकार को इतिहास के सब युगों से सहायता एवं स्फूर्ति लेना आवश्यक हो गया है। इस दृष्टि से यह भी देखा जा सकता है कि किस प्रकार आज की कला प्राचीन काल से आती हुई सांस्कृतिक शृंखला की ही एक कड़ी बन जाती है और यह सम्भव नहीं है कि मानव-सभ्यता के मौलिक इतिहास की सहायता के बिना ही उसके सांस्कृतिक परम्परा को समझा जा सके।

काव्य की तात्कालिक परीक्षा एवं उसकी युगापेक्षी समीक्षा इन दोनों दृष्टिकोणों की आंशिक सत्यता को स्वीकार करते हुए भी हम उन्हें पर्याप्त नहीं समझते। हम मानते हैं कि अन्ततः किसी सांस्कृतिक प्रयत्न के मूल्यांकन के लिए हमें उसे दूसरे समान प्रयत्नों से तुलित करना पड़ेगा और यह दूसरे प्रयत्न युग-विशेष तक ही सीमित नहीं किए जा सकते। उपर्युक्त मान्यताओं के हिमायतियों से हम एक प्रश्न करते हैं—साहित्यिक आलोचक के लिए श्रेष्ठ साहित्य का अनुभव अपेक्षित है या नहीं ! [illegible] एक
ऐसा आलोचक जिसे अतीत [illegible] परिचय
नहीं है, किसी [illegible] । यह
कुण्ठित [illegible]
[illegible] यह यह
[illegible] के लिए
[illegible] है पर
[illegible] के लिए

गुप्तजी की 'भारत-भारती', अपनी सृष्टि के समय, देश को आगे बढ़ानेवाली कृति कही जा सकती थी; पर इसीसे उसके कलात्मक मूल्य का निर्णय नहीं किया जा सकता था। साहित्यिक-समीक्षक के लिए विस्तृत साहित्यिक अनुभव अपेक्षित है इसे रिचर्ड्स ने भी स्वीकार किया है।* किन्तु यह अनुभव क्यों अपेक्षित है, इसका विचार करने की चेष्टा उन्होंने नहीं की है।

महाकवियों की वाणी से परिचय हमें आलोचना-कार्य में किस प्रकार सहायता देता है? और उस परिचय को मूल्यांकन के क्षेत्र में किस प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर पाने से पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि सांस्कृतिक मूल्यांकन के किसी भी क्षेत्र में वैज्ञानिक कथनों की भाँति नपे-तुले निर्णय सम्भव नहीं हैं। वहाँ हम अधिक-से अधिक किसी व्यापार, कृति अथवा व्यक्तित्व को उत्कर्ष की एक विशेष श्रेणी में रख सकते हैं। किसी कृति अथवा कलाकार के सम्बन्ध में हमारा निर्णय इससे आगे नहीं जा सकता कि यह प्रथम, द्वितीय अथवा किसी अन्य श्रेणी में परिगणित होने योग्य है। कालान्तर में, स्वीकृत प्रथम कोटि की वस्तु से उच्चतर वस्तु का प्रादुर्भाव होने पर, ऐसे निर्णय में परिवर्तन भी हो सकता है। किन्तु आज ऐसे परिवर्तन की सम्भावना कम रह गयी है—आज हमें इसकी कम आशा है कि अगले दो-चार हजार वर्षों में हम टॉल्स्टाय और शेक्सपियर से बड़े कलाकार एवं बुद्ध और ईसा से महत्तर व्यक्तित्व उत्पन्न कर सकेंगे। महत् कृतियों अथवा व्यक्तियों का सम्पर्क हम में एक अनिर्वाच्य उत्कर्ष की भावना उत्पन्न कर देता है जिसकी तुला पर हम नवीन प्रयत्नों एवं लब्धियों (Achievements) को तोल सकते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार का सम्पर्क हममें उत्कर्ष के विभिन्न धरातलों को पहचानने की क्षमता प्रस्फुरित कर देता है।

प्रोफेसर जोड ने एक जगह लिखा है कि जो लोग वर्तमान काल में विचारक बनना चाहते हैं उनका एक प्रमुख कर्तव्य यह है कि वे अतीत महापुरुषों की वाणी अथवा विचारों से परिचय प्राप्त करें। इस प्रकार का परिचय उनकी मनस्थिति में संस्कृति का आवश्यक अंग है। मानवता की अतीत सांस्कृतिक उपलब्धियों, उसकी कला और विचार-वैभव आदि के ज्ञान से क्या लाभ होता है? उसका उत्तर है—

* तु० कीजिए 'A good reading, in the end, is the whole of good judgment (वही, पृष्ठ १०५)

They build up certain standards of literary and intellectual taste which while they neither guarantee originality nor contribute to power of thought at least prevent a thinker from making a fool for himself.*

अर्थात् इस प्रकार के परिचय से साहित्यिक एवं बौद्धिक अभिरुचि उत्कर्ष के एक धरातल अथवा मानदण्ड की चेतना प्राप्त करती है जो हास्यास्पद चिन्तन-प्रयत्नों में विरक्ति उत्पन्न कर देती है। उच्चकोटि के विचारकों अथवा कलाकारों का परिचय रखनेवाला व्यक्ति अपनी उन रचनाओं को प्रकाश में लाते हुए संकोच का अनुभव करेगा जो बहुत नीची श्रेणी की हैं। यह शिक्षा सभी प्रकार के लेखकों एवं विचारकों के लिए उपादेय है।

क्या उस मूल्यांकन-भावना का, जो महान् कृतियों के अध्ययन से प्राप्त होती है, कोई बौद्धिक विवरण या विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है? अवश्य ही आलोचकों को इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। महान् कलाकारों की अनुभूति में क्या विशेषताएँ रहती हैं, इसका सामान्य विवेचन करने की चेष्टाएँ कम हुई हैं। इसके विपरीत उनकी शैलीगत अथवा बहिरंग विशेषताओं का विवरण देने में बहुत परिश्रम व्यय हुआ है। संक्षेप में वह हैं तो उच्चकोटि की साहित्यिक अनुभूति की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं, अर्थात् व्यापकता और गम्भीरता। महान् कलाकारों की वाणी अपनी समग्रता में हमें जीवन के विस्तृत चित्रपट से परिचित कराती है और उसकी अर्थभरी छवियों से हमारा गहरा सम्बन्ध स्थापित करती है। जहाँ अपने बाह्य रूप में वह वाणी स्पष्ट, प्रभावपूर्ण और अर्थशालिनी लगती है, वहाँ अपने आन्तरिक रूप में वह जीवन की गहराइयों और मर्म-छवियों को स्पर्श करने वाली होती है। इसके विपरीत निम्न श्रेणी की कला में रचना का आडम्बर एवं कल्पना का चमत्कार ही प्रधान रहता है; वह जीवन एवं हृदय के मर्मस्थल को नहीं छूती, विश्व की ऊपरी झाँकी द्वारा चेतना का मनबहलाव करके ही रह जाती है।

बड़े कलाकारों की वाणी में एक और विशेषता होती है, नवीनता या मौलिकता। श्रेष्ठ कलाकार विश्व को अपनी दृष्टि से देखता है और साक्षात् जीवन से प्रेरणा लेता है, इसलिए उसकी दृष्टि अतीत कलाकारों की आवृत्ति नहीं मालूम पड़ती। हो सकता है कि वह अतीत की महत्वपूर्ण दृष्टियों का, ज्ञात या अज्ञात भाव से, सन्निवेश करले; किन्तु उसकी सृष्टि में वे दृष्टियाँ

* दे० रिटर्न टु फिलासफी, पृ० १६

उसकी अपनी दृष्टियों से नितान्त नये ढंग से सम्बद्ध होकर निराली अनुभव-समष्टियों को उत्सृष्ट कर देती हैं और इस प्रकार स्वयं भी एक नूतन रूप धारण कर लेती है। कलाकार जीवन का मौलिक द्रष्टा होता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह दूसरे कलाकारों अथवा वैज्ञानिक विचारकों की उपेक्षा करता है। कलात्मक मौलिकता का ज्ञान से कोई विरोध नहीं है और यह आवश्यक नहीं है कि कलाकार विज्ञान और दर्शन की ज्ञान-सामग्री से अपने को वंचित रखे। इसके विपरीत प्रत्येक युग के कलाकार को अतीत एवं समसामयिक विचार-राशि का काफी परिचय रखना आवश्यक होता है। आधुनिक काल के बर्नार्डशा, आल्डुस हक्सले, इलियट आदि लेखक हमारे कथन की सत्यता का निदर्शन हैं। स्वयं हमारे रवीन्द्र भी काफी अधीत लेखक थे। किन्तु कलाकार विभिन्न दार्शनिक एवं वैज्ञानिक वादों को पण्डित (Scholar) की तर्क-दृष्टि से नहीं देखता, वह उनका अध्ययन प्रायः जीवन और जगत् की उन मर्मछवियों की अवगति के लिए करता है जिनकी तीव्र प्रतीति ने उन वादों एवं सिद्धान्तों को जन्म दिया है। शास्त्रीय वाद एवं सिद्धान्त कलाकार को बाँधते नहीं, जैसा कि पंडितों तथा इतर पाठकों के के साथ होता है; वे केवल उसके दृष्टि-प्रसार में सहायक होते हैं, उसकी जीवन-दर्शन की क्षमता को तेज करते हैं।

जीवन की क्रियाओं तथा अनुभूतियों की परिधि, उसका आवेष्टन एवं प्रतिक्रियाएँ निरन्तर विस्तृत होती रहती हैं; इसीलिए प्रत्येक युग में नये कलाकारों की आवश्यकता होती है जो विस्तारशील जीवन-छवियों की सम्बद्ध व्याख्या प्रस्तुत कर सकें। कलाकार अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध, अधिक प्रतिक्रियालु और संवेदनशील होता है इसीलिए उसकी उक्ति नूतन लगती है। साथ ही वह युग की अव्यक्त भावनाओं को प्रकाशित भी करती है। दीपक की भाँति अपने युग अथवा वातावरण को प्रकाशित करता हुआ कलाकार स्वयं ही अपनी सीमाओं की चेतना दे देता है। युग से विच्छिन्न कलाकार की अनुभूति अन्य विशेषताएँ भले ही प्राप्त करले वह नूतन अथवा मौलिक नहीं हो सकती। इस दृष्टि से किसी युग का श्रेष्ठ कलाकार अतीत मानों से तुलित होता हुआ भी युग की कसौटी से पलायन नहीं कर पाता। मौलिकता अथवा नूतनता के रूप में युग कलाकार से अपनी विशिष्ट माँग पेश करता है। इसीलिए, वाणी की पूर्णता के बावजूद, रत्नाकर का 'उद्धव-शतक' एक प्रथम श्रेणी की कृति नहीं है। बात यह है कि श्रेष्ठ कलाकार से हम जिस चीज की आशा करते हैं वह अनुभूतिगत नूतनता है, केवल शैली की विचित्रता नहीं।

यह आवश्यक नहीं कि नवीन कलात्मक माध्यम में लिखनेवाले नये युग का व्याख्याता श्रेष्ठ कलाकार पहले हमारे देश या भाषा में ही उत्पन्न हो। आधुनिक युग में, देशगत सीमाओं की कृत्रिमता के कारण, इस प्रकार की संभावना और भी कम हो गई है। इसलिए आज साहित्य में, प्रान्तीयता का बहिष्कार करके, दृष्टि-विस्तार करना नितान्त आवश्यक हो गया है। उदाहरण के लिए उपन्यास-कला का उदय पश्चिम में हुआ, अतः हो सकता है कि हमें उसके मान, उसकी उच्चतम अभिव्यक्ति, वहीं खोजनी पड़े। यों भी विभिन्न साहित्यों एवं संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन सार्वभौम दृष्टि-उन्मेष अथवा सभ्यता की प्रगति के लिए आवश्यक है। ज्ञान की भाँति कला भी सार्वभौम है; भविष्य में, विभिन्न राष्ट्रों के अधिकाधिक निकट आने पर, उसकी यह सार्वभौमता और भी बढ़ जायगी। अतः साहित्यिक मूल्यांकन भी अन्तर्राष्ट्रीय मानों से नियन्त्रित होने लगेगा। किसी भी भाषा में कलात्मक सृष्टि के महत्तम निदर्शन कम रहते हैं, अतः साहित्यिक उत्कर्ष के अनेक रूपों से परिचित होने के लिए अन्यदेशीय साहित्यों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार के अध्ययन द्वारा ही हम तरह-तरह की कलात्मक सृष्टि के मानों को प्राप्त कर सकते हैं। योरप ने कोई कालिदास उत्पन्न नहीं किया और भारतवर्ष ने कोई शेक्सपियर; इसी प्रकार सूर की कविता विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। अवश्य ही शेक्सपियर के अध्ययन से हम लोग, तथा सूर और कालिदास के अध्ययन से योरपीय लाभान्वित हो सकते हैं। दोनों ही जगह इस प्रक्रिया से साहित्यिक उत्कर्ष का धरातल ऊँचा होने की संभावना है।

हाल के एक लेख में बंगाली लेखक श्री बुद्धदेववसु ने ऊपर की मान्यता के विरुद्ध उद्‌गार प्रकट किये हैं। उनका विचार है कि समसामयिक बंग साहित्य को प्राचीन संस्कृत लेखकों अथवा अर्वाचीन अंग्रेजी साहित्यकारों की तुलना द्वारा आँकने की चेष्टा उचित नहीं है; बंगाली लेखकों को उन्हीं की भाषा के कलाकारों से तुलित करना चाहिए:—

> **Both are wrong, for neither the standards of classical Sanskrit, nor those of English are quite suitable to Bengali literature......the time has come to create our principles of criticism by comparing one Bengali author to another. (India, June 1945)**

'अब समय आ गया है कि बंग साहित्य के आधार पर साहित्यिक अथवा आलोचनात्मक मानों का निरूपण किया जाय'; हमारी अपनी सम्मति

इस प्रश्न को ठीक उभारा है। हमारा विश्वास है कि इस बढ़ते हुए अंतर्राष्ट्रीय सम्पर्क के युग में अन्य क्षेत्रों की भाँति साहित्य में भी संकीर्णता (और उससे भी अधिक संकीर्ण प्रान्तीयता) को आश्रय नहीं दिया जाना चाहिए। अपने साहित्य का उचित गर्व होना बुरी बात नहीं है, पर इसका अर्थ अन्यदेशीय कलाकारों के प्रति उदासीन होना, अथवा उनकी उपेक्षा करना, नहीं है। इसी भाँति अन्यदेशीय आलोचना और उसके मानों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसका यह अर्थ नहीं कि लेखकों को स्वयं अपने वातावरण से लिखने की प्रेरणा नहीं लेनी चाहिए—यद्यपि यह सत्य है कि आज का लेखक विशाल मानवता की भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। वस्तुतः कला की सार्वभौमता कलाकार के अनुभूत आवेष्टन से च्युत या सीमित नहीं होती, यदि ऐसा होता तो हम भारतीय हार्डी तथा आर्नल्ड बेनेट के उपन्यासों का रस न ले सकते। किंतु आलोचक की संकीर्णता एक दूसरी बात है। आलोचना बौद्धिक व्यापार है और उसके मान सार्वभौम हैं, ठीक वैसे ही जैसे नीतिशास्त्र के नियम। यदि यह कहना हास्यास्पद है कि हमें अपने नैतिक नियम केवल भारतीय नैतिक जीवन को देख कर बनाने चाहिएँ, तो उक्त लेखक का प्रस्ताव भी समुचित नहीं है। अंग्रेजी उपन्यासकार ई० एम० फार्स्टर का मत हमें अधिक समीचीन लगता है। वे कहते हैं कि 'आलोचक में प्रान्तीयता एक गम्भीर दोष है।' यही नहीं, अंग्रेजी उपन्यासकारों की अन्यदेशीय उपन्यास-लेखकों से तुलना करके वे स्वदेशीय लेखकों को छोटा घोषित करते हुए भी नहीं हिचकिचाते—

......provincialism in a critic is a serious fault......too many little mansions in English fiction have been acclaimed to their own detriment as important edifices ....No English novelist is as great as Tolstoy—that is to say has given so complete a picture of man's life, both on its domestic and heroic side. No English novelist has explored men's soulsas deeply as Dostoevsky. And no novelist anywhere has analysed the modern consciousness as successfully as Marcel proust (Aspects of the novel, Pages, 17, 16)

यदि अंग्रेजी जैसे समृद्ध साहित्य के लिए अन्यदेशीय कलाकारों की तुलना से कलात्मक उत्कर्ष प्राप्त होने की संभावना हो सकती है तो अर्धोन्नत साहित्यों का तो कहना ही क्या। वस्तुतः साहित्यिक क्षेत्र में प्रांतीयता की भावना उत्कर्ष की अपेक्षा हीनताबुद्धि की अधिक द्योतक है। इस मनोवृत्ति

से हम भले ही बड़े कलाकार उत्पन्न करने का गर्व पालें, पर उत्कृष्ट कला-कृतियों को उत्पन्न नहीं कर सकते। आलोचना का वास्तविक उद्देश्य मानवता की सांस्कृतिक चेतना अथवा श्रेष्ठ और सुन्दर की भावना का पूर्णतम विकास करना है, किन्हीं व्यक्तियों, भाषाओं या साहित्यों का महत्त्वख्यापन नहीं। वह समय शीघ्र ही आने वाला है, (अथवा आना चाहिए), जब विश्व-विद्यालयों में अपने देश या भाषा के साधारण लेखकों की तुलना में दूसरी भाषाओं या देशों के श्रेष्ठतर कलाकारों को पढ़ाया जायगा और भिन्न-देशत्व, भिन्नभाषात्व आदि का भाव जाता रहेगा। ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी, वह वर्तमान वैज्ञानिक विकास का स्वाभाविक सांस्कृतिक पर्यवसान होगा।

(नवम्बर, १९४५)

अतिरिक्त टिप्पणी

साहित्य का मानदण्ड महान् लेखकों की महनीय कृतियाँ हैं, यह ठीक है। प्रत्येक नवीन महान् कृति हमारे मूल्यांकन के पैमाने में परिवर्तन उपस्थित करती है। टॉल्स्टॉय, दास्तावस्की, टॉमसमैन, प्रू आदि के उपन्यासों ने औपन्यासिक उत्कर्ष के मानों को निश्चित रूप में प्रभावित किया है।

कहा जा सकता है कि साहित्य-समीक्षा के समस्त सिद्धान्त (रसवाद, अलंकारवाद, ध्वनिवाद) श्रेष्ठ साहित्य के विश्लेषण द्वारा उपलब्ध हुए हैं—अतः हमारे वक्तव्य में कोई नवीनता नहीं है। हम इसे स्वीकार करते हैं। हमारा अभिप्राय यह है कि महत् साहित्य का (अथवा उसकी महत्ता के उपादानों का) विश्लेषण एक ऐसा व्यापार है जो प्रत्येक युग में, नई-पुरानी महनीय कृतियों के आलोक में, नये सिरे से अनुष्ठित होना चाहिए। आज अलंकार, ध्वनि, आदि के पैमाने "आउट-ऑव-डेट" हो गये—उनके प्रयोग द्वारा "अन्ना कैरीनिना" अथवा "गोदान" का मूल्यांकन संभव नहीं है। किन्तु साहित्यसमीक्षा के मानों के अनुचिन्तन में प्राचीन महान् कृतियों का आज भी उतना ही महत्त्व है जितना कि पूर्वकालों में था।

निबन्ध में "व्यापकता", "गहराई" आदि का मार्मिक विश्लेषण करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। मानना चाहिए कि "मानदण्ड" का यह चित्र अधूरा है। इसीलिये आगे आनेवाले निबन्धों की सार्थकता है। साहित्य और युग के संबंध पर "साहित्य का प्रयोजन," "साहित्य और संस्कृति" एवं "युग और साहित्य" निबन्धों में विचार किया गया है।

कलागत सौन्दर्य और महत्ता

'साहित्य का मानदण्ड' शीर्षक लेख में हमने यह स्थापना की थी कि किसी कृति अथवा कलाकार के मूल्यांकन की कसौटी उसकी अनुभूति की गहराई, व्यापकता एवं नूतनता है। किसी कलाकार का जीवन की मार्मिक छवियों से जितना ही विस्तृत और गहरा परिचय है, वह उतना ही बड़ा कलाकार है; साथ ही यह भी आवश्यक है कि कलाकार की दृष्टि एवं अभिव्यक्ति पर उसके निराले व्यक्तित्व की छाप हो। संक्षेप में, साहित्य के मानदण्ड के अन्तर्गत हमने अनुभूति की इन तीन विशेषताओं पर ही जोर दिया था। मूल्यांकन से सम्बद्ध जिस प्रश्न का हमने विचार नहीं किया था वह अनुभूति की अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखता है और इस प्रकार रखा जा सकता है— कला या साहित्य के मूल्यांकन में अभिव्यक्ति की न्यूनाधिक पूर्णता का क्या स्थान होना चाहिए? क्या अभिव्यक्ति अथवा शैली का सौंदर्य अनुभूति के सौंदर्य से अलग चीज़ है? यदि हाँ, तो इस सौंदर्य का स्रोत एवं अधिष्ठान क्या है? एक स्थल पर हमने उस लेख में कहा था कि श्रेष्ठ कलाकार की वाणी अपने बाह्य रूप में 'स्पष्ट, प्रभावपूर्ण और अर्थ-शालिनी लगती है।' किंतु यह स्पष्ट है कि ये सब विशेषताएँ अनुभूति के प्रभावपूर्ण प्रकाशन से सम्बन्ध रखती हैं; अतः उनका अनुभूति से अलग अस्तित्व मानना उचित नहीं। क्या साहित्यकार की वाणी में अनुभूति से भिन्न भी कोई ऐसा तत्त्व होता है जो उसकी रचना को सुन्दर या असुन्दर बनाए? पुराने अलंकारशास्त्री अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों को एक ऐसा ही तत्त्व मानते हैं। आधुनिक काल में इन अलंकारों का महत्त्व बहुत-कुछ कम हो गया है। आज के लेखक और कवि अपनी बात यथा-शक्ति सीधे ढंग से कहना पसन्द करते हैं; अनुप्रास आदि के आडम्बर से उन्हें घृणा है। पर शायद शब्दालंकार अपेक्षाकृत स्थूल उपकरण हैं; प्रश्न यह है कि क्या किसी अधिक गहरे अर्थ में अभिव्यक्ति का सौंदर्य अनुभूति के सौंदर्य से भिन्न होता है?

यूरोपीय दर्शन तथा आलोचना साहित्य में "फार्म" या आकार (कांट की 'फ़ॉर्म') तथा "मैटर" अथवा वस्तु या विषय-वस्तु का भेद बहुत प्रसिद्ध

है। हमारे यहां भी शैली और वस्तु का भेद कम प्रचलित नहीं है। यह शैली कहां तक कला की श्रेष्ठता को प्रभावित करती है?

प्रसिद्ध दार्शनिक और विचारक एस० एलेक्जेण्डर ने अपनी पुस्तक "ब्यूटी एंड अदर फार्म्स आफ वैल्यू" (सौंदर्य तथा अन्य मूल्यसत्व) में एक रोचक प्रभेद (Distinction) निरूपित किया है। उनका कहना है कि कला का सौंदर्य एक बात है और उसकी महत्ता दूसरी; सौंदर्य का अधिष्ठान कला-विशेष का माध्यम (मूर्तिकला में प्रस्तर या धातु, संगीत में स्वर, काव्य में शब्द) होता है जब कि उसकी महत्ता (Greatness) उसकी विषय-वस्तु पर निर्भर करती है। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा। जेन आस्टिन में कलागत सौंदर्य अधिक है यद्यपि डिकिन्स अधिक बड़ा कलाकार है। इसी प्रकार टेनीसन की कला अधिक सुन्दर है, ब्राउनिंग का काव्य अधिक महान् । इन दोनों उदाहरणों में सौंदर्य का कारण अभिव्यक्ति में और महानता का विषय-वस्तु में खोजना चाहिए। डिकिन्स की दृष्टि अधिक व्यापक है, इसलिए वह जेन आस्टिन से बड़ा कलाकार है; साथ ही यह मानना पड़ता है कि जेन की लेखन प्रणाली में अधिक सौंदर्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि जेन आस्टिन और टेनीसन अधिक कुशल कलाकार हैं यद्यपि वे उतनी बड़ी विषय-वस्तु से नहीं उलझते जितनी बड़ी से डिकिन्स और ब्राउनिंग। इस प्रकार एलेक्जेंडर के अनुसार सौंदर्य और महत्ता कला की दो भिन्न विशेषताएँ तथा कसौटियां हैं।

ऊपर का द्वैत दूसरे मूल्य-क्षेत्रों में भी पाया जाता है। मनुष्य के अनेक व्यापारों को हम शुभ या अच्छा कहते हैं, किन्तु सब शुभ व्यापार, अच्छाई में समान होते हुए भी, बराबर महान् नहीं होते। 'स्वयं शुभ कर्मों के भीतर क्षुद्र और महान् का भेद होता है, छोटाई और बड़ाई के दर्जे होते हैं।' स्पष्ट ही एक साधारण अच्छे बालक अथवा किसान और एक गाँधी जैसे नेता की सत्यपरता में महत्ता का भेद है; गाँधी का व्यापार देश के विराट् जीवन से सम्बद्ध है और उसे प्रभावित करता है। यहाँ भी कर्म-विशेष की महत्ता उसके क्षेत्र की विशालता पर निर्भर करती है। इसी प्रकार सत्य के क्षेत्र में भी; सचाई में समान होते हुए भी दो सत्य या सिद्धान्त कम या अधिक महान् हो सकते हैं। किसी सत्य की महत्ता का माप उसकी विषय-वस्तु की विशालता, उसके क्षेत्र की व्यापकता है। 'सूर्य पूर्व में उदय होता है' यह एक सत्य है; आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद भी एक सत्य है; किन्तु दोनों की महत्ता में अन्तर है। किन्तु, एलेक्जेंडर के अनुसार, उनकी सत्यता में कोई अन्तर नहीं है, ठीक जैसे दो अच्छे कामों की अच्छाई में कोई

अन्तर नहीं है। (किन्तु इस दृष्टि से कला की गिनती कुछ निराली है कलाकृतियों में महत्त्व का ही नहीं सौंदर्य का भी अन्तर रहता है।)

संक्षेप में दार्शनिक एस० एलेक्जैण्डर का यही मत है। उनके अनुसार सौन्द कला के माध्यम का गुण है अतः उसका महत्त्व विषय-वस्तु से निरपेक्ष रहे है। माध्यम को एक विशेष ढंग से नियोजित करके, ध्वनियों अथवा शब्दों के एक विशिष्ट संगठन द्वारा कलाकार (गायक अथवा कवि) सौन्द की सृष्टि करता है। माध्यम का ठीक उपयोग न होने पर कला असुन्दर जाती है। इस सिद्धान्त की विशेष परीक्षा करने से पहले हम यह देखने चेष्टा करेंगे कि उसकी हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में क्या उपयोगिता सकती है।

हिन्दी में छायावाद और प्रगतिवाद का विवाद कुछ वर्षों से चल रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि आज छायावाद के पक्ष में बोलनेवाल का सर्वथा अभाव है। प्रगतिवाद का सम्बन्ध मुख्यतः, बल्कि पूर्णतः साहित्य की विषय-वस्तु से है; अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की ओर उसका ध्यान नहीं है। छायावादी काव्य के वातावरण में पले हुए रसज्ञ पाठक तथा कवि प्रगतिवादी काव्य में इस सौन्दर्य का अभाव महसूस करते रहे हैं। उसके पक्ष में, एलेक्जैण्डर की भाषा में, कहा जा सकता है कि कला में सौन्दर्य का स्थान है, उसके मूल्यांकन की एक कसौटी अभिव्यक्ति या शब्दों का सौन्दर्य भी है। एलेक्जैण्डर के ही अनुसार छायावादी काव्य के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह सुन्दर भले ही हो, महान् नहीं है। उसमें जीवन और सभ्यता के प्रति गम्भीर दृष्टि का अभाव है।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये। बच्चन की कविता का मूल्यांकन करने की सफल चेष्टाएँ कम हुई हैं। एलेक्जैण्डर की दोहरी कसौटी बच्चन की कविता पर खूब लागू होती है। सम्भवतः छायावाद-युग के कवियों में बच्चन का अनुभूति-क्षेत्र प्रायः अन्य सब कवियों से संकीर्ण है। (सम्भव है यहाँ कुछ लोग महादेवीजी को बच्चनजी के साथ एक कोष्ठक में रखना चाहें) किन्तु उसी अनुपात में उनकी प्रकाशन-शैली पूर्ण एवं निर्दोष है। कहा जा सकता है कि बच्चन की कविता सुन्दर होते हुए भी महत्ता की दृष्टि से नीची श्रेणी की है क्योंकि वह जीवन और जगत की बहुत कम मार्मिक छवियों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर पाती है।

यहाँ व्यावहारिक आलोचना के कम-से-कम दो महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़े होते हैं। एक, क्या बच्चन में छायावादी पन्त की अपेक्षा अधिक अभिव्यक्ति-सौन्दर्य है? और दूसरे, बच्चन की अनुभूति में व्यापकता भले ही न हो,

तीव्रता पर्याप्त है; यह विशेषता उनकी कविता के महत्त्व की कहाँ तक रक्षा करती है? इस दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में हम पाठकों को इतना ही संकेत देंगे कि अनुभूति की तीव्रता और गहराई दो भिन्न वस्तुएँ हैं, † और इसमें सन्देह है कि अनुभूति की तीव्रता कला को महान् बना सकती है। पहला प्रश्न कुछ अधिक उलझन उत्पन्न करनेवाला है; उसके समाधान के लिए सूक्ष्म एवं गहरा विश्लेषण अपेक्षित होगा। सम्भवतः कुछ आगे चल कर हम इस विषय पर किञ्चित् प्रकाश डाल सकेंगे।

२

एलेक्जेण्डर की आलोचना

एलेक्जेण्डर की उक्त पुस्तक पढ़ने का सौभाग्य हमें हाल ही में प्राप्त हुआ है। हमें यह देख कर प्रसन्नता हुई कि यह विचारक साहित्य के मानदण्ड-सम्बन्धी हमारे विचारों से काफी दूर तक सहमत हैं। एलेक्जेण्डर के मत में कला की (तथा अन्य प्रकार की भी) महत्ता के दो पहलू व्यापकता और गम्भीरता हैं। वे कहते हैं—

'More largely and profoundly.' the phrase is used advisedly. For when we ask if we can analyse greatness, it is perhaps these characters which make the difference of the great subject and the small. To which we may add 'more complexly' unless we choose to construe largeness in the double sense of extension and detail, or include complexity under the head of profundity. (पृ० १५२)

ऊपर के अवतरण में एलेक्जेण्डर ने व्यापकता और गम्भीरता के साथ जटिलता का भी उल्लेख किया है। सम्भवतः सूक्ष्मता का दृष्टि की गहराई में और जटिलता का सम्बन्धगत व्यापकता में अन्तर्भाव हो सकता है। वास्तव में व्यापकता और गहराई के विश्लेषण के लिए एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता होगी। देखने की बात यह है कि इस सम्बन्ध में एलेक्जेण्डर का हम से बहुत कुछ मतैक्य है। भेद इतना ही है कि उन्होंने 'नूतनता' का स्वतन्त्र विशेषता के रूप में उल्लेख नहीं किया है और सौन्दर्य को कला की एक अलग कसौटी मान लिया है। हमारी समझ में

---

† तु० की० वर्ड्सवर्थ Gods approve, The depth and not the tumult of the soul. अर्थात् देवताओं को अन्तरात्मा की गहराई प्रिय है, आकुल उत्तेजना नहीं।

'सौन्दर्य' और 'महत्ता' को कलात्मक मूल्यांकन की दो स्वतन्त्र कसौटियाँ मानने से अनेक कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं। नीचे हम उनका निर्देश करेंगे।

(१) साधारणतः कलाकृतियों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे सुन्दर होती हैं। इस वर्णन के औचित्य में संदेह किया जा सकता है। एक भवन, मूर्ति अथवा चित्र को सुन्दर कह सकते हैं; पर क्या उसी अर्थ में एक गीत या कविता को सुन्दर कहा जा सकता है ? हमारी समझ में 'सुन्दर' विशेषण का प्रयोग दृश्य पदार्थों के लिए ही होना चाहिए। संगीत में दृश्य तत्व का अभाव रहता है, अतः उसे सुन्दर कहना ठीक नहीं जँचता। काव्य-साहित्य में दीखनेवाला तत्व छपे हुए शब्द हैं, किन्तु शब्दों के छपे रूप को सौन्दर्य का अधिष्ठान किसी ने नहीं कहा है। फिर कविता में सुन्दर क्या हो सकता है ? शब्दों के अर्थ को सुन्दर कहने का एक ही आशय सम्भव है, कि शब्दबद्ध चित्र सुन्दर हैं। उस दशा में सौन्दर्य माध्यम का गुण नहीं रहेगा जैसा कि एलेक्जेंडर को अभिप्रेत है। क्या यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य का अधिष्ठान ध्वनि है ? उस दशा में एक अज्ञात भाषा के काव्य में भी सौन्दर्य का अनुभव होना चाहिए। कुछ लोगों का विचार है कि ऐसा होता है— अर्थ बिना समझे हुए भी हम कभी-कभी काव्यगत आवेग को हृदयंगम कर लेते हैं; पर हमें इसमें सन्देह है। हमारा विश्वास है कि यदि कोई भाषा नितान्त अपरिचित है, और उसके काव्य को पढ़नेवाला भी अपरिचित स्वभाव का है, तो हम उस काव्य के आवेग को ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे। यदि कविता नाटकीय ढङ्ग से पढ़ी जाय तो हमारे किंचित् बोध का कारण पढ़नेवाले की भावभङ्गी होगी, न कि कविता के शब्द। निष्कर्ष यह है कि यदि सौन्दर्य काव्य-साहित्य का गुण है तो वह शब्दबद्ध अनुभूति का गुण ही हो सकता है न कि भाषा या माध्यम का। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बार-बार प्रयुक्त होने के कारण, अनुषंगों (Associations) के बल से, छपे और सुने हुए शब्द भी सुन्दर प्रतीत होने लगते हैं। वहाँ यह भी कहा जा सकता है कि शब्दों के सौन्दर्य का कारण उनसे बँधी हुई अथवा संकेतित वस्तुगत छवियाँ ही होती हैं। प्रश्न है इसका फल यह हुआ कि कला की महत्ता ही नहीं उसका सौन्दर्य भी माध्यम द्वारा प्रकाशित विषय-वस्तु से निर्मित होता है।

वास्तव में देखा जाय तो चित्र का सौन्दर्य भी उस अनुभूति या चित्र-वस्तु पर निर्भर करता है जो चित्र में उत्कीर्णित हो रही है ; रंग, रेखाएँ और

रेखाओं में बहुत नीची कोटि का सौन्दर्य होता है। सम्भवतः रेखाओं का विशिष्ट संगठन, संगीत के ध्वनि-समूह की भाँति, कुछ अज्ञात अर्थों का वाहक होने के कारण आकर्षक लगता है। यहाँ अनेक प्रश्न उठाये जा सकते हैं, पर इस समय उन्हें छोड़ चलना ही ठीक होगा।

(२) थोड़ी देर को हम मान लें कि साहित्यिक अनुभूति सुन्दर होती है; तब दूसरी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। एलेक्जेण्डर का मत है कि दो सुन्दर कला-कृतियों के सौन्दर्य में भेद नहीं होता, महत्ता में भेद हो सकता है। जैसे दो सत्य न्यूनाधिक महत्त्वशाली होते हुए भी सचाई में समान होते हैं और दो कर्म न्यूनाधिक बड़े होते हुए नैतिक अच्छाई में। पर क्या यह ठीक है? क्या विषयवस्तु के विस्तार से कलाकृति के सौन्दर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता? क्या सम्पूर्ण 'शाकुन्तल' के सौन्दर्य और 'रघुवंश' के किसी एक सुन्दर पद के सौन्दर्य में कोई भेद न होगा? कम-से-कम अध्यात्मवादी तर्कशास्त्रियों ने यह मत प्रकट किया है कि अधिक व्यापक सत्य, कम व्यापक सत्य की तुलना में अधिक सच्चा होता है। यदि सत्य के क्षेत्र में यह भेद माना जा सकता है तो सौन्दर्य के क्षेत्र में वह और भी अधिक युक्त है।
वस्तुतः अनुभूति या विषय-वस्तु की महत्ता और सौन्दर्य परस्पर निरपेक्ष गुण नहीं हैं जो एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करते। सुन्दर की एक विशेषता (जिसे एलेक्जेण्डर ने माना है) 'अनेकता में एकता' भी है; इससे स्पष्ट है कि एकीकृत तत्वों का विस्तार सौन्दर्य का प्रमुख उपादान है। वास्तव में महान् कलाकृति का सौन्दर्य छोटी कलाकृति से भिन्न और निराला होता है। इस भेद को केवल मात्रा का भेद नहीं कहा जा सकता; विषय का नूतन संगठन जिस सौन्दर्य को जन्म देता है वह निराली वस्तु होती है। यह उल्लेखनीय बात है कि जॉनस्टुअर्ट मिल ने सुख के जातिगत भेद माने थे। वास्तविकता यह है कि कृति-विशेष के उत्कर्ष को हम महत्ता और सौन्दर्य में विश्लेषित करके ग्रहण नहीं करते; वह हमें अपने समग्र रूप में ही प्राप्त होता है। उस अनुभूति के जो, कला में हमें प्राप्त होती है, विस्तार, गहराई और नूतनता विभिन्न पहलू हैं; वे एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते।

यहाँ प्रश्न उठता है—क्या इस अनुभूति का एक पहलू सौन्दर्य भी है? अनुभूति से भिन्न सुन्दर अनुभूति का भी क्या अस्तित्व है? ऊपर हमने इस मत का निराकरण किया कि सौन्दर्य माध्यम का गुण है; क्यों हमें यह

† The beauty of the great work is no greater than that of the small one—वहीं।

स्वीकार करना चाहिए कि कलात्मक अनुभूति में सौन्दर्य नामक गुण की अवस्थिति रहती है।

हमारा अपना विश्वास है कि ऊपर की प्रश्नावली का उत्तर नकारात्मक होना चाहिए। हम मानते हैं कि सौन्दर्य कला मात्र का गुण नहीं। कलात्मक अनुभूति तब ही सुन्दर कही जा सकती है जब उसकी विवृति का विषय वस्तु-गत सौन्दर्य हो। हमारे अनुसार सुन्दर की अनुभूति ही सुन्दर अनुभूति है। क्योंकि कलात्मक अनुभूति का विषय सदैव सुन्दर नहीं होता इसलिए सौन्दर्य कला मात्र का धर्म नहीं है। किन्तु सब प्रकार की कलात्मक अनुभूति "सार्थक" होती है, अर्थात् उसका विषय सर्वत्र सार्थक तत्व होते हैं। साहित्य की दृष्टि से सार्थक तत्त्व या छवियाँ वे हैं जो मानव मात्र को हेय या उपादेय प्रतीत होती हैं। यहाँ याद रखना चाहिए कि कला की विषय वस्तु व्यक्ति-विशेष के लिए ही सार्थकता नहीं रखती, वह मानव मात्र के दृष्टिकोण से अर्थवत् प्रतीत होती है। सुन्दर तत्व अर्थवत् की ही एक उपश्रेणी है; जिन्हें हम सत्य और शिव कहते हैं वे अर्थवत् के दूसरे विभाग हैं। संक्षेप में कलात्मक अनुभूति का विषय जीवन और जगत में बिखरे हुए सब प्रकार के मूल्यतत्व (Values) हैं।

नीचे के पद्यों और पद्य-खण्डों पर ध्यान दीजिए:—

(१) साथ निशिनाथमुखी पाथनाथ-नन्दिनी-सी
तुलसी विलोके चित्त लाए लेत संग है;
आनँद उमंग मन यौवन उमंग तन
रूप की उमंग उमगत अङ्ग अङ्ग है।

(२) पावस-ऋतु थी, पवत-प्रदेश;
पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार।

(३) बहुरि बदन-विधु अंचल ढाँकी।
पियतन चितै दृष्टि करि बाँकी॥
खंजन-मंजु तिरीछे नयननि।
निज पति तिनहिं कह्यो सिय सैननि॥

(४) द्विधाय जड़ित पदे, कम्पवक्षे नम्र नेत्रपाते
स्मितहास्ये नाहि चल सलज्जित वासरशय्याते
स्तब्ध अर्धराते।
उषार उदय सम अनवगुण्ठिता
तुमि अकुण्ठिता
वृन्तहीन पुष्पसम आपनाते आपनि विकशि
कबे तुमि फुटिले ऊर्वशि!

ऊपर के सब पद्य सुन्दर काव्य हैं। उनके सौन्दर्य का कारण ललित पद-योजना नहीं अपितु अभिव्यक्त अनुभूति की सुन्दर विषय-वस्तु है। सुन्दर की अनुभूति के वाहक होने के कारण ही उक्त कविता-खण्ड सुन्दर हैं। उनकी पदावली को सुन्दर कहने का यही अभिप्राय हो सकता है कि कवियों ने विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है। शेक्सपीयर की निम्न पंक्तियों में भी उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग किया गया है; पर वे ऊपर के पद्यों की भाँति सुन्दर कही जा सकती हैं, इसमें सन्देह है—

To-morrow, and to-morrow, and to-morrow
Creeps in this petty pace from day to day,
To the last syllable of recorded time;
And all our yesterdays have lighted fools,
The way to dusty death. Out, out brief candle!
Life's but a walking shadow, a poor player
That struts and frets his hour upon the stage,
And then is heard no more: it is a tale
Told by an idiot, full of sound and fury,
Signifying nothing.

शेक्सपियर की ये पंक्तियाँ श्रेष्ठतम काव्य हैं इसे सभी सहृदय स्वीकार करेंगे; साथ ही यह मानना भी जरूरी मालूम पड़ता है कि वे पिछले पद्यों की भाँति सुन्दर नहीं हैं। उनकी श्रेष्ठता का कारण सौन्दर्य न होकर कोई और तत्व है। यहाँ कई रोचक निष्कर्ष निकलते प्रतीत होते हैं। एक, श्रेष्ठ कला आवश्यकरूप में सुन्दर नहीं होती। अभिव्यक्ति की पूर्णता उच्च कला का आवश्यक गुण है, पर यह पूर्णता सौन्दर्य से भिन्न वस्तु है। दूसरे, सौन्दर्य और महत्ता काव्य के दो भिन्न गुण नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि कलागत सौन्दर्य का कारण एक तत्व हो और उसके महत्व का दूसरा। केवल सौन्दर्य भी कला को उच्च बना सकता है। पूर्वोद्धृत चार पद्यों में यदि कोई श्रेष्ठता या महत्ता है तो उसका एक प्रमुख कारण उनका सौन्दर्य है। इसका अर्थ यह

है कि जहाँ सब प्रकार की महत् अनुभूति आवश्यक रूप में सुन्दर नहीं होती वहाँ केवल सुन्दर की अनुभूति कलागत उच्चता या महत्व का कारण बन सकती है। वस्तुतः हमारा विचार है कि कालिदास और कीट्स के काव्य का महत्व बहुत-कुछ उनके अनुभूतिगत सौन्दर्य पर निर्भर है। यद्यपि हम यह नहीं मानते कि कला का एकमात्र विषय सौन्दर्य है फिर भी हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि कला में जिन मूल्यसत्त्वों (Values) की विवृति होती है उनमें सौन्दर्य का प्रमुख स्थान है। संसार के तथाकथित 'रोमाण्टिक' कवियों ने मुख्यतः जीवन और जगत के सौन्दर्य-तत्व (और उससे सम्बद्ध प्रेमवृत्ति) को ही अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की है।

(३)

रोमांटिक काव्य ; छायावाद और प्रगतिवाद—कवि कीट्स ने कहीं लिखा है कि Poetry should surprise us by a fine excess अर्थात् श्रेष्ठ कविता को हमें एक मनोज्ञ अतिशयता से चकित करना चाहिए। रोमांटिक काव्य में यह अतिशयता सौन्दर्य के निर्भर संकेतों से उत्पन्न होती है। रोमांटिक कवि मुख्यतः सौन्दर्य का कवि होता है, वह मानो संसार को सुन्दरता से रँगे चश्मे से देखता है। उसकी अनुभूति अन्य प्रकार की सार्थकताओं को ग्रहण करती हुई भी उनमें बरबस सौन्दर्य का समावेश कर देती है। ऐसे कवि करुण प्रसंगों पर भी अच्छा लिख सकते हैं क्योंकि उनमें प्रायः सौन्दर्य का मिश्रण रहता है। करुणा के उद्रेक का कारण बहुधा कोमल एवं सुन्दर पर आघात या प्रहार होता है। यथा—

> अभी तो मुकुट बँधा था माथ, हुए कल ही हलदी के हाथ ;
> खुले भी न थे लाज के बोल, खिले भी चुम्बन-शून्य कपोल ;
> हाय ! रुक गया यहीं संसार, बना सिन्दूर अँगार !
> वात-हत-लतिका वह सुकुमार, पड़ी है छिन्नाधार !

रोमांटिक कवि को संसार चिर-नवीन, कुतूहलमय एवं मनोरम प्रतीत होता है। उसे यदि यहाँ बुराई दीखती है तो सौन्दर्य की नश्वरता एवं कोमल भावनाओं की उपेक्षा के रूप में। प्रायः रोमांटिक कवि को अपने व्यक्तित्व से विशेष मोह और उसकी मूल्यवत्ता में अखण्ड विश्वास होता है। फलतः वह अपनी उपेक्षा नहीं सह सकता और प्रायः मानव-समाज से असंतुष्ट रहता है। रोमांटिक स्वभाव के कवि प्रायः दुनिया में "फिट" नहीं बैठते।

रोमांटिक दृष्टि और कल्पना की मनोज्ञ अतिशयता अक्सर अनिर्बन्धित और असमर्थन्न होती है। ऐसा कवि प्रायः नैतिक संतुलन से अपरिचित तथा

कर्म-जगत के प्रति उपेक्षाभाव रखनेवाला होता है। उसमें अनुभूति की भावना भी कम विकसित रहती है। अतः वह वीरों की गाथाओं अथवा मानवता के नैतिक प्रयत्नों का फलात्मक निरूपण करने में कम समर्थ होता है। वह प्रायः सफल नाटककार या महाकाव्य प्रणेता नहीं बन पाता। बात यह है कि नाटक या महाकाव्य लिखने के लिये रचनात्मक एवं अनुभूतिगत संयम की जरूरत होती है जो विशुद्ध रोमांटिक स्वभाव में नहीं होती। यही कारण है कि शेली और 'प्रसाद' के नाटक यथार्थ नहीं हो सके हैं और, अंकन की सूक्ष्मता के बावजूद, 'कामायनी' एक प्राणहीन कृति मालूम पड़ती है।

सौन्दर्य का मतवाला रोमांटिक कवि कभी-कभी बेमौके सुन्दरता की सुरा ढालने लगता है। बाणभट्ट का वैशंपायन-शुक जिसका पिता अभी मारा गया है प्राण-रक्षा के लिए एक तमाल वृक्ष की जड़ में घुसता हुआ उसके सौन्दर्य-वर्णन का लोभ संवरण नहीं कर पाता, यह बाणभट्ट की नितांत रोमांटिक कल्पना का असंयम या अत्याचार है—

पितरमुत्सृज्य.........लुंठन्नितस्ततः कृतान्तमुखकुहरादिव विनिर्गतमात्मानं मन्यमानो नाति दूरवर्तिनः शबरसुन्दरीकर्णपूररचनोपयुक्तपल्लवस्य संकर्षणपट नीलच्छायेयोपहसत इव गदाधर देहच्छविम्, अच्छैः कालिन्दीजलच्छेदैरिव विरचितच्छदस्य विन्ध्याटवी केशपाशश्रियमुद्वहतो तमालविटपिनो मूलदेशमाविशम्।

'उस तमाल के कोमल पत्ते शबर-सुन्दरियों के कर्ण-फूल बनाने में नियुक्त होते थे, बलराम के वस्त्र जैसी नीली छाया से वह मानो वह विष्णु की शरीर-शोभा का तिरस्कार करता था, उसके पत्ते मानो यमुना के कृष्ण जल-बिन्दुओं से निर्मित हुए थे, विन्ध्याटवी की केशपाश-श्री का वह जैसे वहन कर रहा था.........।' काल के मुख से पलायन करता हुआ कोई जन्तु इस प्रकार सौन्दर्य के निरीक्षण और वर्णन में प्रवृत्त हो सकता है, यह कल्पना रोमांटिक बाणभट्ट के मस्तिष्क में ही आ सकती है। सौन्दर्य का यह उचित-अनुचित सन्निवेश, उसकी प्रचुर अतिशयता, रोमांटिक संवेदना एवं कला की अन्यतम विशेषता है।

छायावादी काव्य में रोमांटिक काव्य की उक्त विशेषता न्यूनाधिक मात्रा में वर्तमान है, और यह विशेषता उसके आकर्षण का प्रमुख रहस्य रही है। साथ ही यह मानना पड़ेगा कि कल्पना की अतिशयता के कारण छायावादी सौन्दर्याभिव्यक्ति पुष्ट एवं प्रौढ़ नहीं हो सकी है। आज दिन प्रगतिवादी आलोचकों की ओर से यह कहा जा सकता है कि अब मात्र सौन्दर्य की

विकृति करनेवाले काव्य की आवश्यकता नहीं है; काव्य-साहित्य को समाज और सभ्यता के लिए उपयोगी होना चाहिए। किन्तु प्रगतिवादियों की यह आलोचना कि छायावादी काव्य पलायनवादी था, आधे से भी कम सत्य है। छायावाद की मूल प्रेरणा सुन्दर का प्रेम था, असुन्दर या अशुभ से पलायन नहीं; पन्त, निराला और महादेवी में पलायन की भावना प्रधान नहीं है। उनमें जहाँ कहीं पलायनात्मक उद्गार हैं भी वहाँ वे प्रायः असुन्दर सम्बन्धी विरक्ति या उपेक्षा के ही द्योतक हैं। वादमुक्त आलोचना की दृष्टि से कहा जायगा कि छायावादी काव्य एकांगी था। इस दृष्टि से प्रगतिवादी जिस पथ का निर्देश कर रहे हैं वह भी साहित्य को एकांगी बनानेवाला है। प्रगतिवाद के पक्ष में कहा जा सकता है कि वह दो तिहाई जीवन (अर्थात् उसके सत्य एवं शिव-पक्ष) की अभिव्यक्ति के समर्थन में लड़ रहा है जब कि छायावादी कवि मात्र सौन्दर्य में उलझ कर रह गए थे। किन्तु कोई भी प्रथम श्रेणी का कलाकार जिसे अपनी अनुभूति में विश्वास है सुन्दर की अभिव्यक्ति से विरत नहीं हो सकता; इस अभिव्यक्ति का साहित्य में वही स्थान है जो जीवन में आनन्द का। यह ठीक है कि जीवन कर्मभूमि है, विशेषतः संघर्ष के युग में; पर साथ ही यह याद रखा जा सकता है कि साहित्य में मनुष्य का कर्म-पक्ष प्रायः सुन्दर और असुन्दर के रूपों में निरूपित या प्रकाशित होता है।

(जुलाई, १९४६)

कलागत सौन्दर्य और महत्ता—२

पिछले लेख में हमने एलेक्जेण्डर के इस मन्तव्य का विरोध किया था कि सौन्दर्य मूल्यांकन की अलग कसौटी है। इस सम्बन्ध में हमने यह महत्वपूर्ण स्थापना की थी कि सौन्दर्य कलात्मक अनुभूति का व्यापक धर्म नहीं है और सुन्दर को अनुभूति को ही सुन्दर कहा जा सकता है। शैक्सपियर के एक अवतरण की सहायता से हमने यह संकेत करने की भी चेष्टा की थी कि अभिव्यक्ति की पूर्णता सौन्दर्य नहीं है। प्रस्तुत लेख में हम अभिव्यक्ति एवं शैली की समस्या पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे। कारण यह है कि इस सम्बन्ध में कतिपय पक्षपात गहरी जड़ें पकड़ गए हैं।

शैली और सौन्दर्य; पन्त और बचन

शब्द-जाल के अपार होते हुए भी यह कहना सत्य का विपर्यय न होगा कि मनुष्य की भाषा अथवा व्यंजना-शक्ति बहुत सीमित है। हमारी आत्मपाती तथा वस्तुपाती, अन्तर्जगत एवं बाह्य जगत से सम्बद्ध, अनुभूति में जितनी विविधता, विचित्रता और "शेड" होते हैं उन्हें व्यक्त करने के लिए अलग-अलग शब्द पाना प्रायः असंभव होता है। फलतः हम काफी मिलती-जुलती तथापि भिन्न संवेदनाओं को अपनी सुविधा के लिए कतिपय अधिक परिचित शब्दों से प्रकट करने लगते हैं। यह लाचारी साधारण लोगों तक ही सीमित रहे तो इतना हर्ज न हो; होता यह है कि यह चिन्तकों की सूक्ष्मतम विचारणाओं को आक्रान्त करके नितान्त भ्रामक निष्कर्षों तथा सिद्धान्तों के प्रतिपादन का कारण बन जाती है।

हमें भय है कि हमारी भाषा में 'सुन्दर' शब्द का बहुत दुरुपयोग होता है। न जाने हम अपनी कितनी विभिन्न भावनाओं को इस एक शब्द द्वारा प्रकट करते हैं! सुन्दर-विशेषण का प्रयोग प्रकृति तथा मनुष्य के आकर्षण के लिए ही नहीं होता; हम सुन्दर संगीत, सुन्दर भाषा, यहाँ तक कि सुन्दर बात, सुन्दर प्रस्ताव, सुन्दर योजना आदि का भी व्यवहार करते हैं। स्पष्ट ही इन सब स्थलों में सुन्दर शब्द का एक ही अर्थ नहीं होता। कोई प्रस्ताव उपयोगी हो सकता है न कि सुन्दर; इसी प्रकार योजना भी उपयोगिता तथा

व्यावहारिकता की कसौटी पर ही कसी जा सकती है। ऐसे ही किसी समाचार को सुन्दर कहना भी समीचीन नहीं है। वास्तव में, जैसा कि सौन्दर्यशास्त्री काण्ट के समय से कहते आए हैं, सुन्दर पदार्थ उपयोगी न होते हुए भी आनन्दप्रद होता है। प्रश्न यह है कि क्या सुन्दर के इस वर्णन के अनुसार भाषा और शैली को उसके अन्तर्गत लाया जा सकता है।

ऊपर हमने यह मत प्रकट किया कि सौन्दर्य अनुभूति का गुण है, उस अनुभूति का जिसका विषय सुन्दर तत्त्व है। वस्तुतः सौन्दर्य अन्तर्जगत तथा बाह्यजगत की वस्तुओं का धर्म है; उनकी अनुभूति को उपचार से ही सुन्दर कहा जा सकता है। इस दृष्टि से कला के लिए भी सुन्दर विशेषण का प्रयोग औपचारिक है। कलात्मक अनुभूति का व्यापक धर्म अर्थवत्ता (Significance) है और यह गुण बीभत्स तथा भयानक छवियों से संबद्ध साहित्य में भी पाया जाता है। जगत्प्रसिद्ध उपन्यास 'War and Peace' (युद्ध और शान्ति) के वे पृष्ठ जहाँ घायल सैनिकों से भरे अस्पताल का वर्णन है साहित्य ही नहीं, उच्चतम साहित्य है, क्यों कि यह मानव सुख-दुःख एवं प्रयत्नों के लिए भीषण सार्थकता रखता है।

सौन्दर्य शैली का भी गुण नहीं है। अभिव्यक्ति, सफल, कम सफल, या असफल हो सकती है; उसे सुन्दर या असुन्दर कहना उचित नहीं। [1]बर्नार्डशा ने कहीं कहा है—Effective expression is the alpha and omega of style. अर्थात् शैली का सम्पूर्ण तत्व प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति है। इस प्रभविष्णुता के अतिरिक्त शैली में सौन्दर्य-असौन्दर्य की खोज भ्रामक है। कहा जाता है कि 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' और 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' का अर्थ यही है, भेद केवल शैली में है; किन्तु यह ठीक नहीं है। इन दो वाक्यों से दो भिन्न चित्र हमारे सामने आते हैं। विशेष परिस्थितियों में सूखा वृक्ष भी सुन्दर लगता है, जैसे चाँदनी रात में, और रोमांटिक कल्पना को वस्तुएँ प्रायः सौन्दर्य से रँगी हुई प्रतीत होती हैं।

प्रायः यह सभी स्वीकार करेंगे कि शैली की पूर्णता पत्र की अपेक्षा वचन में अधिक है, पर क्या वचन का काव्य अधिक सुन्दर होने का प्रभाव उत्पन्न करता है? हमारा प्रस्ताव है कि वचन की शैलीगत पूर्णता के लिए सुन्दर से कोई भिन्न नाम दिया जाना चाहिए, हम उसे रचना-नैपुण्य अथवा निर्माण-कौशल कह सकते हैं।

---

[1]—भाषा और शैली स्वतः साध्य न होकर भावव्यंजना के उपकरण हैं, अतः काण्ट की परिभाषा के अनुसार सुन्दर कहलाने के अधिकारी नहीं हैं।

इस निर्माण-कुशलता के दो पहलू हैं, एक का सम्बन्ध अनुभूतिगत सामञ्जस्य से और दूसरे का अर्थपूर्ण शब्दयोजना से है। जिस प्रकार एक अच्छे विचारक के विचारखण्ड परस्पर संगति रखते हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठ साहित्यकार की सम्वेदनाएँ समञ्जस अनुभूति अथवा अनुभव-समष्टि का रूप धारण कर लेती हैं। यह सामञ्जस्य छोटे-बड़े गीतों में ही नहीं नाटकों तथा विशालकाय उपन्यासों में भी अपेक्षित होता है। किसी दशा में व्यापक अनुभूति का अर्थ असम्बद्ध अनुभव-खण्डों का जमघट नहीं किया जा सकता। अतः हमारा विचार है कि अनुभूतिगत सामञ्जस्य को व्यापकता से भिन्न मूल्यांकन की कसौटी मानना जरूरी नहीं है। वास्तव में जहाँ सामञ्जस्य का अभाव एक गम्भीर दोष है वहाँ उसकी उपस्थिति अपने में साहित्यिक श्रेष्ठता का प्रमाण या मापक नहीं है। बच्चन की कविता में अनुभूतिगत सामञ्जस्य है इससे हमें उसके महत्व के सम्बन्ध में कोई बोध नहीं होता, हम केवल इतना जान पाते हैं कि उसमें निर्माण-कुशलता की कमी या अभाव नहीं है। अनुभूतियों का सामञ्जस्य साहित्यिक श्रेष्ठता की आवश्यक शर्त है, पर वह स्वयं श्रेष्ठता का उपादान या माप नहीं है।

अब हम निर्माण-कौशल के दूसरे पक्ष शब्द-योजना का विचार करें। यदि शब्दों का चयन अनुभूति के अनुरूप नहीं हुआ है तो इसका अर्थ यह है कि कलाकार अपनी अभीष्ट अनुभूति को हम तक नहीं पहुँचा सका। किन्तु इस प्रकार की सफलता या असफलता का हम अनुमान ही कर सकते हैं। क्योंकि शब्दबद्ध अनुभूति से भिन्न मूल अनुभूति तक हमारी पहुँच नहीं है इसलिए हमारे लिए यह कहना कठिन होगा कि कलाकार की अनुभूति सदोष है अथवा उसकी अभिव्यक्ति। प्रायः अच्छे कलाकारों और विचारकों का भाषा पर काफी अधिकार रहता है, प्रायः भाषा की कमी का अर्थ क्षेत्र-विशेष से सम्बद्ध अनुभव की कमी होती है। एक लेखक किसान-मजदूरों की भावनाओं का ठीक प्रकाशन नहीं कर पाता, इसका अर्थ यही है कि वह उनके जीवन और मनोभावों से सुपरिचित नहीं है। साधारणतया भाषा की जटिलता विचारगत जटिलता की और उसकी सादगी विचारगत सादगी की द्योतक होती है। इसी प्रकार उलझी हुई अनुभूति या विचार उलझी हुई अभिव्यक्ति को जन्म देते हैं। तात्पर्य यह कि अनुभूति और व्यञ्जना में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव रहता है।

इस क्रम में विपर्यय तब पैदा होता है जब लेखक अनुभूति के अभाव में, पद पूर्ति की आवश्यकता अथवा शब्द-मोह से प्रेरित होकर, अनावश्यक पदों

का अस्पष्ट सहारा लेने लगता है। शब्दों का यह अतिरेक कभी तो अनुभूति की क्षीणता का और कभी कलाकार के असंयम अथवा अभिव्यक्तिगत अनियंत्रण का परिणाम होता है। यहाँ संयम और नियंत्रण से क्या तात्पर्य है? नियंत्रण से मतलब उस क्रिया से है जिसके द्वारा कलाकार अपनी अनुभूति को वांछित रूपरेखा एवं सामञ्जस्य देता है; और संयम का अर्थ वह वृत्ति है जो कलाकार को उक्त अनुष्ठान में बाधक तत्त्वों की ओर, फिर वे चाहे कितने भी आकर्षक क्यों न हों, ध्यान देने से रोकती है। हमें भय है कि छायावादी कवियों में न्यूनाधिक ऊपर के दोनों गुणों की कमी है। वे लोग प्रायः अभीष्ट अनुभूति को सुस्पष्ट रूपरेखा और सामञ्जस्य नहीं दे पाते और उस अनुभूति से न्यूनाधिक असम्बद्ध शब्द-चित्रों के मोह में पड़ जाते हैं। ऐसे चित्रों का सन्निवेश यदि अभीष्ट अनुभूति के सामञ्जस्य को ध्वस्त न करे तो वह कौतूहल द्वारा संवेदित मनोज्ञ अतिशयता का विधायक बन जाता है, विपरीत हालत में, जब वह सामञ्जस्य का विघातक हो, उसके द्वारा काव्य की प्रभविष्णुता को क्षति पहुँचती है।

संयम और नियंत्रण व्यक्तित्व के गुण हैं और चारित्रिक दृढ़ता को प्रतिबिम्बित करते हैं। इस दृढ़ता का व्यावहारिक प्रतिफलन एक निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर शक्ति-पूर्वक अग्रसर होना है। जिन्हें यूरपीय आलोचना में "क्लासिकल" लेखक कहा जाता है उनमें उक्त गुणों की पूर्ण उपस्थिति रहती है; वे अनुभूति से अभिभूत होकर ही नहीं लिखते अपितु अपनी अभिव्यक्ति पर पूरा नियंत्रण रखने और उसे अभीष्ट रूपरेखा देने में समर्थ होते हैं। रोमांटिक कवियों या लेखकों में इन गुणों का न्यूनाधिक अभाव रहता है। शेली की अपेक्षा कीट्स में और पन्त की अपेक्षा रवीन्द्र में संयम और नियन्त्रण अधिक है; शैली की दृष्टि से वर्ड्सवर्थ (तथा बच्चन) को क्लासिकल कहना चाहिए। रवि बाबू की कुछ रचनाओं तथा बच्चन के प्रायः समस्त काव्य में एक खटकनेवाली बात अनुभूति की क्षीणता एवं कल्पना का अतिरेक है। पन्त की भी अनेक रचनाएँ, जैसे 'छाया', 'नक्षत्र', 'स्याही का बूँद' आदि इस दोष से दूषित हैं। कल्पना-प्रधान रचनाओं में प्रायः अनुभूति की गहराई और व्यापकता दोनों की कमी रहती है, भले ही उसमें हलके आकर्षण का सन्निवेश रहे। कल्पना में हमें चमत्कृत करने की जितनी क्षमता होती है उतनी रस-सिक्त करने की नहीं। इसीलिए हमारा विचार है कि रवीन्द्रनाथ उतने बड़े कवि नहीं हैं जितने कि सूर और तुलसी। इस कथन का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि रावीन्द्रिक साहित्य में उच्चतम कोटि की रचनाएँ नहीं हैं; प्रश्न ऐसे काव्य के परिमाण और अनुपात का

है। हमारा अनुमान है कि रवि बाबू की अधिकांश रचनाएँ जिनकी रमणीयता कल्पना द्वारा निर्मित है शीघ्र ही भुला दी जायँगी। बच्चन की कविताएँ पढ़ते समय लगता है कि वे न्यूनाधिक तीव्र असन्तोष के "मूड" में लिखी गयी हैं जब कवि बरबस विश्व को अपने अनुकूल रंग में रँगा हुआ देखता है, अथवा उसे इस प्रकार रँगने की चेष्टा करता है। विश्व-जीवन में यों भी काफी दुःख और पीड़ा है जिसकी विवृति उच्च काव्य में होती आयी है। बचन इस वास्तविक व्यथा और दुःख से प्रेरणा नहीं लेते इसीलिए उनकी कविता रीढ़हीन अथच "सेण्टीमेण्टल" मालूम पड़ती है। वह वास्तविक जीवन की कलात्मक व्याख्या प्रस्तुत नहीं करती और उसके विस्तार एवं गहराइयों से हमारा रागात्मक सम्बन्ध नहीं जोड़ पाती। वह प्रायः ऐसे पाठकों को अधिक प्रिय लगती है जिन्होंने परिस्थितियों के आघात से अपनी जीवन-दृष्टि को सीमित तथा एकांगी और अपनी रुचि को विकृत बना लिया है।

संयम और नियन्त्रण कलाकार के आवश्यक गुण हैं जो श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि में सहायक होते हैं। उनका अभाव कला में खराबी उत्पन्न करता है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी उपस्थिति कला-साहित्य को अतिरिक्त महत्त्व प्रदान कर देती है। नैतिक-क्षेत्र में भी हम किसी व्यक्ति का महत्त्व उसकी चारित्रिक दृढ़ता से नहीं बल्कि उन बड़े कामों से आँकते हैं जो उस दृढ़ता द्वारा सम्पन्न होते हैं। कलाकार का संयम और नियन्त्रण भी साधन-भूत हैं, साध्य नहीं; अतः वह महत्त्व का उपकरण होते हुए भी उसका प्रतिमान नहीं हैं। इस स्थापना का व्यावहारिक निष्कर्ष यह है कि काव्य-साहित्य की आलोचना में शैली अर्थात् भाषा और अभिव्यक्ति-सम्बन्धी विशेषताओं का गुणगान नहीं होना चाहिए, यद्यपि तत्सम्बन्धी दोषों का निर्देश आलोचना का आवश्यक अंग है। प्रायः जब हम किसी कलाकार की शैली की प्रशंसा करते हैं तो हमारे आनन्द का कारण उसकी अनुभूति की कोई विशेषता होती है। क्योंकि अनुभूतिगत विशेषताओं को नाम देना कठिन है इसलिए आलोचक भ्रमवश यह समझने लगते हैं कि उनकी रसानुभूति का कारण शैली है। वास्तव में शैली को लेकर वाहवाही देना, विशेषतः उर्दू साहित्य के सम्बन्ध में, आलोचनात्मक असामर्थ्य का सूचक है। मेरे एक मित्र ने एक बार बड़ी गम्भीरता से कहा कि उर्दू कवियों की प्रमुख विशेषता भाषा की सफाई है। यह ध्यान देने की बात है कि उर्दू साहित्य में आलोचना बहुत कम विकसित दशा में है; इसका एक कारण यह भी है कि वे भ्रमवश ग़ज़ल के सौन्दर्य का कारण भाषा को समझते रहे, और दूसरे प्रकार के श्रेष्ठ साहित्य से उनका परिचय नहीं हो सका। ग़ज़ल के विभिन्न शेरों में एकता नहीं होती इस बात को

लेकर कुछ समीक्षक व्यर्थ उसे कोस रहे हैं। इस प्रकार यह प्रश्न कि ग़ज़ल के अपार आकर्षण का क्या रहस्य है, आलोचना की दृष्टि से अछूता ही रह गया है। वास्तव में उर्दू शैली में जो चमत्कार प्रायः दृष्टिगोचर होता है उसका कारण उसमें विशेष ढंग की वक्रता का समावेश है, और वक्रता कथन का गुण है, शैली का नहीं।

भाषाधिकार उर्दू कवियों की निराली सम्पत्ति ही ऐसा नहीं है; कालिदास और तुलसी भी भाषा तथा अभिव्यक्ति पर पूर्ण अधिकार रखते हैं। भेद यही है कि अधिकांश कवियों की अनुभूति उर्दू-काव्य की वक्रता से रहित है। एक संकीर्ण भाव-भूमि में घूमते हुए उर्दू कवि प्रायः एक ही बात को भिन्न शब्दों में कहते पाए जाते हैं जिससे भ्रम होता है कि वे शाब्दिक प्रयोग कर रहे हैं; पर वस्तुतः उनका लक्ष्य बौद्धिक वक्रता के विभिन्न रूप होते हैं। ज़ौक़ ने कहा है कि कविगण कोशिश करने पर भी ग़ज़ल के क्षेत्र में मीर को नहीं पा सके; इसका कारण मीर की विशिष्ट शैली नहीं, अनुभूति की विशेषता थी। सम्भव है शैली का कुछ दूर तक अनुकरण हो सके, पर भिन्न संवेदना के लेखक की अनुभूति का अनुकरण संभव नहीं है। यही कारण है कि ग़ज़ल की संकीर्ण भावभूमि में भी बड़े कवियों का अलग-अलग व्यक्तित्व दिखाई देता है।[1]

निष्कर्ष यह है कि सामान्यतः उर्दू काव्य के तथा विशेष रूप में उसके विशिष्ट कवियों के निराले आकर्षण का रहस्य भाषा एवं अभिव्यक्ति-कला के बाहर खोजना चाहिए। यहाँ एक प्रश्न और उठाया जा सकता है। बिहारी तथा उर्दू कवियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे *'गागर में सागर'* भरने की कला जानते हैं। क्या यह शैली की विशेषता नहीं है? हमारा

१—*निम्न दो शेरों की तुलना कीजिए,*

(१) हजरते नासह गर आएँ दीद ओ दिल फ़र्शे राह,
कोई मुझको यह तो समझा दो कि समझाएँगे क्या। (ग़ालिब)

(२) क्या जाता है इसमें हमारा चुपके हम तो बैठे हैं,
दिल जो समझना था सो समझा नासह को समझाने दो। (मीर)

पहले शेर में खीझ और अधैर्य का भाव है, दूसरे में दीर्घ पीड़ा-जन्य निर्वेद (Resignation) की भावना।

विचार है कि यह विशेषता भी अनुभूति से सम्बन्ध रखती है और उस उन्नत चयनवृत्ति (Selective Spirit) की द्योतक है जिसे विलियम जेम्स ने 'एरिस्टोक्रेटिक' मनोवृत्ति का अन्यतम लक्षण बताया है। यह कवि मानो परिस्थिति-विशेष की सार्थकतम छवियों को ही देखते हैं, साधारण रोचकता वाले पदार्थों में उनका दिमाग नहीं रमता।

ऊपर की विवेचना से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि काव्य-साहित्य की शैली मूल्यांकन की अलग कसौटी नहीं है और जिन विशेषताओं का शैली में सन्निवेश किया जाता है वे प्रायः अनुभूति की विशेषताएँ होती हैं। उदाहरण के लिये सौन्दर्य, मधुरता आदि शब्द-रूप माध्यम अथवा उक्ति-प्रकार के गुण न होकर अनुभूति या दृष्टि की विशेषताएँ हैं। हम जानते हैं कि इस स्थापना द्वारा हम विश्व के अधिकांश आदरणीय विचारकों का विरोध कर रहे हैं, पर हमें इसका भय नहीं है। डर यह है कि कहीं इस अतिवादी मंतव्य द्वारा हम रसज्ञों की वास्तविक अनुभूति के विरुद्ध तो नहीं जा रहे हैं।

यह उल्लेखनीय बात है कि आचार्य मम्मट ने माधुर्य आदि गुणों को रस का धर्म माना है, शब्दों का नहीं[1] किन्तु इन आचार्यों ने अलंकारों की व्याख्या अपेक्षाकृत स्थूल लेखनी से की है, वे उनका रसानुभूति से कोई गहरा सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पाए हैं। 'रस के अंगभूत शब्दार्थों द्वारा उसमें अतिशय अथवा उत्कर्ष का विधान करनेवाले धर्म अलंकार हैं' (वामनी टीका)। यहाँ यह स्पष्ट है कि शब्दालंकार शब्दों द्वारा तथा अर्थालंकार अर्थ द्वारा रस में उत्कर्ष स्थापित करते हैं। भला रस की अभिव्यक्ति से भिन्न उसके उत्कर्ष-विधान का क्या अर्थ है? क्या रस की व्यञ्जना काफी नहीं है? क्या उत्कर्ष-विधान अधिक रसोद्रेक अथवा स्थायी भाव की सफलतर अभिव्यक्ति से जुदा है? वस्तुतः इस असमंजस का मूल हेतु वस्तु-जगत की सार्थकता के बदले (जो शब्दों का प्रकृत विषय है) स्थायीभावों को कलात्मक अभिव्यक्ति का लक्ष्य अथवा विषय बना देना है। हमारे मंतव्य के अनुसार तथाकथित अर्थालंकार अनुभूतिगत विशेषताओं को वर्णित करने के प्रयत्न मात्र हैं। कहा जाता है कि समस्त अर्थालंकारों का मूल उपमा है। यह उपमा और कुछ नहीं जीवन एवं जगत की अर्थवत् छवियों को सम्बन्धित करने का एक प्रकार मात्र है। वैज्ञानिक भी वस्तुओं के सम्बन्ध-सूत्र खोजता है, किन्तु यह सम्बन्ध प्रायः कार्यकारण-मूलक होते हैं।

[1]—रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् (अष्टमउल्लास)

साहित्यकार जिन सम्बन्धों को देखता व पाता है वे नितान्त भिन्न कोटि के होते हैं। शायद उनका मूल मानवता की निगूढ़ अन्तः प्रकृति में रहता है, शायद वे मूल्य-जगत के अनिर्वाच्य नियमों के वाहक होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उपमा अथवा अन्य अलंकारों का विधान कोई खामखयाली चेष्टा नहीं है। वे अलंकार जो वस्तुतः मार्मिक हैं, जो हृदय को स्पर्श करते हैं, प्रगल्भ कल्पना के रूप में नहीं आते, वे अनुभूति का अवियोज्य अङ्ग, उसके विधायक अणु-परमाणु रूप, होते हैं। ऐसे अलंकार वाणी या कल्पना का विलासमात्र नहीं होते।

महाकवि कालिदास ने, जो अपनी उपमाओं के लिए प्रसिद्ध हैं, शकुन्तला के अभुक्त यौवन-सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार किया है,

> अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः
> अनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्
> अखण्डं पुण्यानां फलमिव च······ ·· ····

अर्थात् वह (शकुन्तला का व्यक्तित्व) 'उस फूल की तरह है जो अभी तक सूंघा नहीं गया है, उस नई कोंपल के समान है जो नख-स्पर्श द्वारा क्षत नहीं हुई; न बेधे हुए रत्न की भाँति; न चक्खे हुए नए मधु की तरह; संचित पुण्य कर्मों के अखण्ड (सम्पूर्ण) फल के तुल्य······।' शकुन्तला के यौवनोच्छल व्यक्तित्व में एक अपूर्व नयापन है, ताजगी (Freshness) है जैसी सद्यः स्फुटित गुलाब में होती है, जैसी अभिनव पल्लव, अनास्वादित मधु में रहती है, जैसी···आप सम्पूर्ण अनुभव-जगत् को खोज डालिए पर कालिदास की उपमाओं से अधिक सुन्दर या व्यञ्जक एक भी उपमा नहीं पा सकेंगे। ये उपमाएँ कालिदास ने प्रगल्भ कल्पना द्वारा नहीं उपजाई हैं। अपनी अनुभूति को प्रकट करने के लिए उनकी *दृष्टि बरबस समूचे अनुभव-जगत में घूम गयी है और वहाँ से उन छवियों ढूँढ लाई है जो अपनी सद्योन्मिषित नूतनता से हृदय को वैसे ही प्रभावित करती हैं, जैसे शकुन्तला का अस्पृष्ट रूप-यौवन। पाठक देखें कि यह दृष्टि मुख्यतः जीवन्त वनस्पति-जगत् में शकुन्तला का उपमान खोजती है; और उसके बाद खनिज वर्ग तथा हिन्दू-समाज के सांस्कृतिक वातावरण में पहुँचती है। कालिदास ने विभिन्न व्यक्तियों (Entities) में जो सादृश्य स्थापित किया है वह उनकी कल्पना का चमत्कार नहीं है, उनकी सत्यता का साक्षी, प्रथम कोटि की उपमाओं में, वनस्पतिविज्ञान या प्राणिशास्त्र है; और अन्तिम तुलना में हिन्दू-जाति की चिर-परिचित सांस्कृतिक दृष्टि जो पुण्यों के अखण्ड फल को विशेष लोभ की दृष्टि से देखती आयी है। न बेधे हुए रत्न की*

उपमा संभवतः सबसे कमजोर है, पर कृत्रिम स्पर्श अथवा स्पर्श-जन्य विकृति के निराकरण का कार्य वह पूर्णतया सम्पन्न करती है। अच्छी उपमाएँ सर्वत्र इसी प्रकार या तो हमारी जैवी प्रकृति अथवा हमारे दीर्घकालीन मानवीय (Racial), सामाजिक किंवा सांस्कृतिक अनुभव पर निर्भर करती हैं। दूसरे, साम्य और वैदम्य के वे विधान जो प्रकृत काव्य-प्रेरणा से निःसृत होते हैं, अनुभव जगत की किसी सचाई को प्रकट करते हैं; और यह धारणा कि काव्य-साहित्य का सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, नितान्त भ्रमपूर्ण है। †

यहाँ जागरूक पाठक पूछेंगे—किन्तु शब्दालङ्कार क्या हैं! वे तो किसी तरह भी अनुभूति के धर्म सिद्ध नहीं किए जा सकते। शब्द-विशेषों के प्रयोग पर ही उनकी उपस्थिति निर्भर रहती है। इस आपत्ति में कुछ बल अवश्य है, पर उतना नहीं जितना दिखाई पड़ता है। हमारे (अर्थात् भारतीय) साहित्य-शास्त्र में स्वीकृत शब्दालङ्कार दो प्रकार के हैं, एक वे जो मुख्यतः संगीत का विधान करते हैं, जैसे अनुप्रास। अनुप्रासों का समावेश वहीं अच्छा लगता है जहाँ वह संगीत को पुष्ट करता है, अन्यत्र वह सहृदयों को खलता है। श्रेष्ठ कवि प्रायः अज्ञात भाव से अनुप्रासों का सन्निवेश करते हैं; इसके विपरीत क्षुद्र कवि उन्हें यांत्रिक ढङ्ग से ठूँसने का प्रयत्न करते हैं। उस दशा में अनुप्रास मूल अनुभूति की निरर्थकता के कारण ही अच्छे लगते हैं, वह भी निम्न-कोटि के पाठकों को। यमक और श्लेष के यत्किंचित् चमत्कार का कारण (प्रथम के संगीत-विधान के अतिरिक्त) यह है कि वस्तु-जगत की भाँति शब्द-जगत से भी मानव-जाति का बड़ा गहरा सम्बन्ध स्थापित हो गया है। यमक और श्लेष वस्तु-जगत की नहीं, शब्द-जगत की अर्थवत्ता (Significance) का उद्योतन करते हैं—यहाँ लेखक अपनी शब्द-जगत से सम्बद्ध अनुभूति को प्रकाशित करता है। बाणभट्ट ऐसा ही कलाकार है। वह शब्द-शास्त्र के पण्डितों और अनुसंगवश से शब्दों के प्रेमियों को प्रिय लगता है। गद्य-ग्रन्थ होते हुए भी उसकी कृतियाँ भाषान्तरित नहीं हो सकतीं। ऐसे कलाकारों में भय इस बात का रहता है कि वे शब्दों को जीवन और जगत का स्थानापन्न समझने लगें; वे प्रायः प्रथम श्रेणी के साहित्यकार नहीं बन पाते।

---

† उपमान और उपमेय की समानता इस अर्थ में सत्य होती है कि दोनों के मूलित रूप द्रष्टा में समान प्रतिक्रिया जगाते हैं। मतलब यह कि सादृश्य देखा जाता है, कल्पित नहीं किया जाता।

यदि संगीत अथवा लय (Rhythm) की संवेदना अनुभूति का अंग है तो मानना पड़ेगा कि विशिष्ट छन्दों, अनुप्रास आदि का विधान शैली की विशेषता नहीं है। कहना चाहिए कि, कम-से-कम काव्य के क्षेत्र में, संगीत कलागत महत्ता का एक पृथक् उपादान और प्रतिमान है। किन्तु काव्यगत संगीत का निर्णय करने के लिए किन्हीं नियमों का निर्देश नहीं किया जा सकता; रस और सौन्दर्य की भाँति यह सहृदय-संवेदना द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। पन्त के 'गुञ्जन' में किंचित् शब्द मोह के साथ हृदय को झंकृत करनेवाला संगीत भी ओत-प्रोत है।

इस सम्बन्ध में हम यह कह दें कि काव्य में संगीत का महत्व होते हुए भी उसे अर्थ पर प्रधानता नहीं देनी चाहिए—संगीत के लिए अर्थ का बलिदान क्षम्य नहीं है। साहित्य मुख्यतः मार्मिक अनुभूति है। भवभूति की 'अविदित गत यामा रात्रिरेवं व्यरंसीत्' पंक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसमें बिन्दुमात्र का आधिक्य है, 'एवं' के बदले 'एव' होना चाहिए। यहाँ पाठक देखेंगे कि बिन्दु की उपस्थिति संगीत को और अनुपस्थिति अर्थ को पुष्ट करनेवाली है। तथापि हम यह जोड़ दें कि अवसर-विशेष पर अर्थ और संगीत के आपेक्षिक महत्व का निर्णय सहृदय कवि की चेतना ही ठीक कर सकती है।

(जुलाई १६५६)

अतिरिक्त टिप्पणी

आपने बोधात्मक अंश में साहित्य हमारी चेतना का उन्मेष या विकास करता है। रूपों, रंगों की भाँति ध्वनियों के लयात्मक संगठन की चेतना भी काव्य में रहती है, अतः रूप-चेतना की भाँति ध्वनि अथवा संगीत-चेतना को भी अनुभूति का अंग मानना चाहिए।

गीत काव्य में सौन्दर्य, रागात्मक द्रवण एवं संगीत की अनुभूतियाँ अवियोज्य रूप में सम्पृक्त या संमिश्र हो जाती हैं।

❀ ❀ ❀

उक्त निबन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है—क्या वही बात दो भिन्न ढंगों से व्यक्त की जा सकती है? क्या अनुभूति से भिन्न शैली का भी अस्तित्व है?

यह निश्चित है कि दो भिन्न शब्द-संगठन ठीक वही अनुभूति नहीं जगा सकते। फिर भी यह देखा जाता है—विशेषतः उर्दू ग़ज़ल में—कि दो कवि एक ही वक्तव्य को भिन्न प्रकारों से अदा करते हैं जिससे उक्ति के प्रभाव में भेद पड़ जाता है।

बात यह है कि उक्ति का ढंग सीधा भी हो सकता है और चमत्कारपूर्ण

भी अर्थात् ऐसा जो वक्ता की प्रतिभा या चातुर्य का द्योतक हो। कुछ विचारक इस प्रकार के चमत्कार को काव्य की आवश्यक विशेषता बतलाते हैं; कुछ प्रकारान्तर से उसे श्रेष्ठ काव्य का गुण कथित करते हैं। इस संबंध में आगे विचार किया जायगा।

चातुर्यपूर्ण उक्ति वक्तव्य विषय के अतिरिक्त वक्ता के प्रतिभा-मूलक सौन्दर्य को भी सम्मुख लाती हैं, अतः प्रिय लगती है। इसे शैली की विशेषता कहा जाय अथवा अभिव्यक्त अनुभूति की यह परीक्षकों की रुचि पर निर्भर करेगा। प्रस्तुत लेखक ने यहाँ जिस दृष्टि का प्रतिपादन किया है उसके अनुसार तथाकथित शैलीगत विशेषताएँ वास्तव में राग बोधात्मक अनुभूति की ही विशेषताएँ होती हैं। किसी उक्ति में वक्तव्य वस्तु ही नहीं, वक्ता का बौद्धिक-संवेदनात्मक व्यक्तित्व भी प्रकाशित हो जाता है।

साहित्य का प्रयोजन[1]

मानव-जीवन के कुछ प्रश्न ऐसे हैं, जो प्रायः प्रत्येक युग में पूछे जाते हैं और जिनका समाधान प्रत्येक युग को स्वतन्त्र रूप में ढूँढ़ना पड़ता है। प्रसिद्ध है कि दर्शन तथा आचारशास्त्र के अनेक प्रश्न इस कोटि के होते हैं; 'साहित्य का प्रयोजन क्या है?' यह प्रश्न भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। बात यह है कि साहित्य के प्रयोजन तथा जीवन के प्रयोजन या अन्तिम लक्ष्य की समस्याएँ एक-दूसरे से असंबद्ध नहीं हैं, और जहाँ साहित्य-दर्शन जीवन-दर्शन से प्रभावित होता है, वहाँ वह जीवन-दर्शन के निर्माण के लिए महत्वपूर्ण तथ्य (Data) भी उपस्थित करता है। यही कारण है कि विभिन्न साहित्य-विचारक उसके स्वरूप एवं प्रयोजन के विषय में एक-दूसरे से इतना विवाद, इतनी कटु आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगते हैं।

अस्तु, अब हम अपने प्रश्न को कुछ अधिक मूर्त रूप देने की कोशिश करें। क्या मानवता के विशाल जीवन के लिए साहित्य की कोई उपयोगिता है? क्या वह मानव-सभ्यता को किसी तरह आगे या पीछे बढ़ाता है? साहित्य का जीवन के अन्य महत्वपूर्ण अंगों, मनुष्य के आचार विचार, उसकी धर्म-भावना एवं जीवन-दृष्टि से क्या सम्बन्ध है? अथवा यह मानना चाहिए कि साहित्य मात्र व्यक्तिगत आनन्द या मनोविनोद की वस्तु है और उसका मनुष्य के सामूहिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है? यहाँ कतिपय पुराने प्रश्न बड़े उग्र रूप में सामने आ जाते हैं, जैसे कला और नैतिकता (Art and Morality) के सम्बन्ध का प्रश्न।

जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया इन प्रश्नों पर मत-विभिन्नता का अन्त नहीं है। क्रोचे के अनुयायी अमेरिकन आलोचक स्पिनगार्न ने 'नवीन आलोचना' शीर्षक निबन्ध में यह बतलाते हुए कि नई समीक्षा ने किन-किन अन्धविश्वासों का परित्याग कर दिया है, लिखा है:—

We have done with all moral judgement of art. .... Some said that poetry was meant to instruct; some, merely to please; some, to do both. Romantic criticism

[1] पटना कालेज के 'साहित्यिक सप्ताह' में पठित (१९४७)

first enunciated the principle that art has no aim except expression; that its aim is complete when expression is complete; that 'beauty is its own excuse for being.'

अर्थात् कला की परीक्षा नैतिक दृष्टि से करना अन्ध परम्परा है, जिसे अब हम छोड़ चुके हैं। काव्य साहित्य का उद्देश्य न केवल शिक्षा या केवल आनन्द देना है, न दोनो; कला का एक ही लक्ष्य है, अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है; सौन्दर्य स्वयं अपना साध्य है, उसके अस्तित्व के प्रयोजन की खोज वांछनीय नहीं है। आगे स्पिनगार्न कहता है कि सौन्दर्य की दुनिया सत्य और शिव दोनों क्षेत्रों से अलग है और कला को नीति-विरोधी कहना वैसा ही है जैसा किसी गीत या इमारत को आचार-शून्य घोषित करना। इसी प्रकार ए० सी० ब्रेडले ने अपने प्रसिद्ध 'कविता कविता के लिए' निबन्ध में यह प्रतिपादित किया है कि काव्यकला स्वयं अपना साध्य है, वह धर्म, संस्कृति, नैतिक शिक्षा, मनोवेगों को मृदु बनाने आदि का साधन नहीं है।

दूसरे विचारकों ने उक्त मान्यताओं के ठीक उलटे उद्‌गार प्रकट किये हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार टॉल्स्टॉय का मत है कि कला की मुख्य कसौटी नीति और धर्म हैं, अर्थात् यह विचारणा कि कहाँ तक उसका जीवन पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है। वे कहते हैं—In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what is bad common to that whole society, and it is this religious conception that decides the value of the feelings transmitted by art.[1] मैथ्यू आर्नल्ड का विचार है कि 'जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है वह स्वयं जीवन के प्रति विद्रोही है, और जो काव्य नैतिकता से उदासीन है, वह स्वयं जीवन से उदासीन है।'[2]

यहाँ प्रश्न उठता है कि उक्त दो विरुद्ध मतों में से किसे स्वीकार किया जाय। इससे भी महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इन विरोधी मान्यताओं की परीक्षा कैसे की जाय; किस पद्धति से, किस आधार पर, उक्त विवाद का निपटारा किया जाय?

---

[1] दे० What is Art? (Oxford), पृ० १२८-२६।

[2] A Poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt agaist *life*: a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards *life*.

संभवतः कुछ लोग, जिन्होंने तर्कशास्त्र पढ़ा है, सोच सकते हैं कि दो विरुद्धों के बीच तीसरी स्थिति संभव नहीं है—"परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः।" किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। कुछ परीक्षकों ने एक तीसरी ही कोटि के विचार प्रकट किये हैं। आधुनिक काल का प्रसिद्ध कवि और आलोचक टी० एस० इलियट पहली साँस में कहता है :—

And certainly poetry is not the inculcation morals, or the direction of politics, and no more it religion or an equivalent of religion, except some monstrous abuse of words.........अर्थात् शब्दों का भयं दुष्प्रयोग किये बिना यह नहीं कहा जा सकता कि कविता नीति की शि राजनैतिक मार्ग-दर्शन अथवा धार्मिकता या उसका समकक्ष कुछ और है किन्तु आगे चलकर वह इस एकाङ्गी सम्मति में संशोधन कर देता है—

On the other hand poetry as certainly has somethi to do with morals, and with religion, and even wi politics perhaps, though we cannot say what. (T Sacred Wood, 1928 Edn.) अर्थात् कविता का नैतिकता, धर्म-भाव और संभवतः राजनीति से भी कुछ सम्बन्ध अवश्य है, यद्यपि हम न जानते कि यह सम्बन्ध क्या है। डा० आई० ए० रिचर्ड्स का मत भी कु इसी प्रकार है। [1]आचार्य मम्मट ने काव्य के अनेक प्रयोजन बतलाते हु इस बात पर विशेष गौरव दिया है कि यह आनन्द के लिए (सद्यः परनिर्वृ तये) है; साथ ही उनका कथन है कि यह कान्ता-संमित उपदेश के लि भी है। मेरे विचार में कान्ता-संमित विशेषण का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि मम्मट, इलियट की भाँति, यह ठीक-ठीक बताने में असमर्थ हैं कि किस प्रकार काव्य-कला नैतिक शिक्षण का कार्य सम्पन्न करती है। रिचर्ड्स की 'किसी विशिष्ट अर्थ में' (in some special senses) व्यंजना भी इसी असमर्थता की द्योतक है।

मैं समझता हूँ कि उन परीक्षकों की तुलना में जो काव्य और नैतिकता एवं धर्म भावना में कोई सम्बन्ध नहीं देखते, दूसरी श्रेणी के विचारक जिनमें

---

[1] तु० की० Culture, religion, instruction *in some special senses*, softening of the passions, and the furtherance of good causes may be directly concerned in our judgments of the poetic values of experiences (प्रथम इटैलिक्स हमारे हैं।) Principles, पृ० ७४।

आर्नल्ड तथा टॉल्स्टॉय के अतिरिक्त प्लेटो, अरस्तू, होरेस, दान्ते, मिल्टन, शेली आदि पश्चिम के तथा भरत, आनन्द-वर्धन, अभिनवगुप्त आदि भारत के विचारक सम्मिलित हैं, सत्य के अधिक समीप हैं। साथ ही मेरा विश्वास है कि काव्य के नैतिक-धार्मिक तत्वों का निरूपण युग-विशेष के स्वीकृत नीति-शास्त्र तथा धर्म-भावना द्वारा ही नहीं हो सकता। जिस अन्तर्दृष्टि पर काव्य-साहित्य निर्भर करता है, वह प्रचलित नीतिवाद से आगे और कभी कभी उसके विरुद्ध भी चली जाती है। इस दृष्टि से इलियट और मम्मट की यह भावना कि काव्य और नैतिकता का सम्बन्ध ठीक-ठीक व्याख्येय नहीं है, वस्तुस्थिति के अधिक निकट है। आप कहेंगे कि मैंने ऊपर की सम्मति सिद्धान्तवादी (Dogmatic)ढंग से प्रकट कर दी है, उसे स्वीकार करने का कोई कारण उपस्थित नहीं किया है। वास्तव में अवशिष्ट लेख में हमें इन कारणों का ही निरूपण करना है। साहित्य का प्रयोजन क्या है, उसका सभ्यता, नैतिकता या धर्म-भावना से क्या सम्बन्ध है—इसका उचित उत्तर पाने के लिए हमें साहित्य के स्वरूप की कुछ जानकारी होनी चाहिए। साहित्य के सम्बन्ध में प्रस्तुत विषय से लगाव रखनेवाला मुख्य प्रश्न यह है—साहित्य की विषय-वस्तु क्या है, साहित्य में किस चीज को अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की जाती है?

अभिव्यंजनावादी का यह कथन कि साहित्य अभिव्यक्ति या अभिव्यक्ति की कला है, साधारण लोगों को ही नहीं, दार्शनिकों को भी एक पहेली मालूम पड़ता है। क्रोचे के दार्शनिक सिद्धान्त भी कुछ ऐसे ही हैं। अभिव्यंजनावाद का एक मात्र सत्य पहलू यह सिद्धान्त है कि साहित्य या कला-विशेष का काम पदार्थों की सफल या स्पष्ट अभिव्यक्ति, उन्हें अनुभव में मूर्त कर देना है। किन्तु उस सिद्धान्त का यह परिणाम कि प्रत्येक वस्तु—रेल के इंजन का धुआँ अथवा बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण—समान रूप से कला का विषय बन सकती है यदि कलाकार उसे अनुभव में पूर्णतया मूर्त कर सके, उसे यथार्थवाद का एक उग्रतम रूप दे देता है और उसका हमारी मूल्य भावना (Sense of values) से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।

एक दूसरा प्रचलित एवं पुराना मत यह है कि साहित्य में हमारी संवेदनाओं (Feelings) तथा आवेगों (Emotions) की अभिव्यक्ति होती है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को वेगपूर्ण संवेदनाओं का सहज उद्गार (Spontaneous outburst of powerful feelings) अथवा शान्त क्षणों में स्मृत आवेग (Emotion recollected in tranquillity) घोषित किया है। टॉल्स्टॉय के अनुसार कला का जन्म तब होता है जब

एक व्यक्ति अनुभूत आवेग को दूसरों तक पहुँचाने में समर्थ होता है। भार-तीय रसवाद के अनुसार विभाव, अनुभावादि के द्वारा सहृदयगत स्थायीभावों की अभिव्यक्ति को रस और रसमय वाणी को काव्य कहते हैं।

साहित्य-संबंधी उक्त मान्यताएँ बड़े-बड़े विचारकों के नाम से संबद्ध हैं, और उनके पीछे दीर्घ-परम्परा का बल है। मेरे पास इतना अवकाश नहीं है कि इन मान्यताओं का लम्बा विवरण और विस्तृत परीक्षा प्रस्तुत करूँ। संक्षेप में मैं आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि स्वयं कवियों की तथा आलोचकों और रसज्ञ पाठकों की एक बड़ी संख्या यह मानती चली आई है कि साहित्य में मनुष्य के हृदय की अथवा उसके भीतर की किसी चीज की अभिव्यक्ति होती है। उस भीतरी चीज को किसी ने संवेदना, किसी ने आवेग और किसी ने कुछ और नाम दिया।

यदि मैं आपसे कहूँ कि मैं इन मान्यताओं को बहुत दूर तक भ्रम-मूलक मानता हूँ, तो आप सहसा सतर्क हो जाएँगे, और मेरे प्रति असहानुभूति का भाव धारण कर लेंगे। पर मैं आपसे निवेदन करूँगा कि आप अधीर न हों और इन मान्यताओं के कतिपय निष्कर्षों पर तटस्थ भाव से विचार करें।

यदि साहित्य मात्र मेरे भीतरी आवेगों, संवेदनाओं अथवा स्थायी भावों की अभिव्यक्ति है, तो यह स्पष्ट है कि मुझे साहित्य-सृष्टि के लिए अपने आवेश्न—अपने चारों ओर के स्त्री-पुरुषों तथा शेष संसार से सम्पृक्त होने की, उनमें अभिरुचि लेने की बिलकुल जरूरत नहीं है। मेरा काम, साहित्यकार होने की हैसियत से, केवल यह है कि मैं अपने भीतर झाँकूँ और अपनी भीतरी प्रतिक्रियाओं को छन्दोबद्ध या गद्यात्मक भाषा में प्रकट कर दूँ। उक्त मान्यताओं का ही दूसरा निष्कर्ष यह भी है कि कलाकार को संसार के मनीषी विचारकों के चिन्तन से किसी प्रकार का लाभ उठाने की आशा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसका लक्ष्य उन आवेगों या संवेदनाओं को व्यक्त करना है जो पहले से ही उसके भीतर मौजूद हैं। इसीलिए कुछ लोगों का विचार है कि कलात्मक सृष्टि के लिए विशेष शिक्षा-दीक्षा आव-श्यक नहीं है, कलाकार अपनी जन्मजात प्रतिभा के बल पर साहित्य-सर्जना करता है।

आपको शायद यह परिणाम अप्रिय लगे; आप में से कुछ यह भी कह सकते हैं कि मैंने उक्त सिद्धान्त के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया है; क्योंकि रसवाद स्थायी भाव की अभिव्यक्ति में विभावों की—अर्थात्, आवेश्न (Environment) की जिसमें नर-नारी सम्मिलित हैं—उपादेयता स्वीकार करता है। मेरा उत्तर है कि रसवाद के अनुसार भी, जो इन सिद्धान्तों में

सबसे पुष्ट है, आवेष्टन के सम्पर्क का स्थान नितांत गौण है; और वहाँ प्रायः किन्हीं भी आलंबनों एवं उद्दीपन विभावों से काम चल सकता है। वर्ड्सवर्थ तथा टॉल्स्टॉय के विवरणों में आवेष्टन का इतना भी महत्त्व नहीं है, और डा० रिचर्ड्स के अनुसार अन्तर्वृत्तियों का समंजस संगठन ही कला का एक मात्र लक्ष्य है।

यहाँ प्रसंगवश मैं भारतीय रस-सिद्धान्त के संबंध में एक बात कह दूँ; उसने आवेग-संवेदनावाद के एक बड़े दोष के परिहार का यत्न किया है। शुद्ध संवेदना या आवेग, अन्तःप्रवृत्ति (Impulse) या स्थायी भाव की अभिव्यक्ति संभव नहीं है, इस पर रसवाद के आचार्यों का ही ध्यान गया और उन्होंने विभावादि को अभिव्यक्ति का साधन कथन किया। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार संवेदना और आवेग, विशेषतः द्वितीय, शरीर की आकुलित अवस्था का नाम है जिसमें आमाशय तथा उसके पार्श्ववर्ती अंगों में विशेष हलचल होने लगती है। इस शारीरिक आकुलता एवं हलचल को आवेगयुक्त पुरुष अन्य भाव से महसूस करता है; पर यह कहना निरर्थक है कि वह उसे समझता है, और इसीलिए वह उसे वाणी द्वारा अभिव्यक्त करने में भी असमर्थ होता है। वस्तुतः जब कोई व्यक्ति अपने क्रोध को वाणी से प्रकट करता है, तो वह अपने शारीरिक परिवर्तनों का विवरण नहीं देता, अपितु उन प्रतिकूल परिस्थितियों का वर्णन करता है जो उसके क्रोधोदय का कारण हुई हैं—जैसे क्रोध-भाजन व्यक्ति के दुर्व्यवहार अथवा हानिकारक व्यापारों का।

इस प्रसंग को हम यहीं छोड़ें। मेरा तात्पर्य यह है कि साहित्य मात्र किसी भीतरी वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं होता। अतः साहित्य का प्रयोजन अन्तःप्रवृत्तियों का संगठन या समंजसीकरण भी नहीं है, जैसा कि डॉ० रिचर्ड्स का मत है। वस्तुतः विज्ञान की भाँति साहित्य भी आवेष्टन (Environment) के प्रति प्रतिक्रिया है और उसका उद्देश्य मनुष्य का आवेष्टन से विशेष संबंध स्थापित करना है। अवश्य ही विज्ञान और साहित्य नामक प्रतिक्रियाओं में भेद है और उनके द्वारा स्थापित मनुष्य और आवेष्टन के सम्बन्ध भी भिन्न हैं। विज्ञान का क्षेत्र भौतिक आवेष्टन है जहाँ वह मुख्यतः कार्य-कारण-सम्बन्धों का उद्घाटन या स्थापना करता है; इसके विपरीत साहित्य का क्षेत्र मुख्यतः मानव जीवन है जहाँ वह शुभ-अशुभ, सुन्दर-असुन्दर आदि तत्वों को ढूँढता और उनसे मनुष्य का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। विज्ञान मनुष्य को भौतिक आवेष्टन का आधिपत्य देता है, साहित्य उसे मानव-जीवन के सौन्दर्य का उपभोग;

विज्ञान आवेष्टन को हमारा बना देता है, साहित्य उसे हमारे अस्तित्व का अंश। साहित्य में जड़ प्रकृति भी सुन्दर और सजीव बनकर हमारे जीवन या अस्तित्व का अंग बन जाती है।

आप पूछेंगे कि हमारी इस स्थापना का प्रमाण क्या है? मेरा उत्तर है—कलाकार के साहित्य-सृष्टि के क्षणों का सतर्क निरीक्षण कीजिए और आप देखेंगे हमारा मत ही वस्तुस्थिति का सच्चा विवरण प्रस्तुत करता है। शकुन्तला के सौन्दर्य अथवा दुष्यन्त के मानसिक द्वन्द्व का वर्णन करते समय कालिदास की अभिरुचि एवं चिन्ता का केन्द्र क्या होता है? अवश्य ही शकुन्तला का व्यक्तित्व और दुष्यन्त का मन न कि अपने भीतरी विकार। इसी प्रकार 'रामचरित मानस' की वर्णना का विषय, उसकी कला-पद्धति का केन्द्र, राम हैं न कि तुलसी। यह कहना कि 'मानस' लिखते समय तुलसी का ध्यान राम की लीलाओं पर न होकर अपनी संवेदनाओं, आवेगों या भाव-पद्धति की ओर था, वस्तु-स्थिति का सही उल्लेख न होगा। इसी प्रकार गोर्की के माँ उपन्यास में अभिव्यक्ति का विषय रूस के कुछ मजदूरों का जीवन है, स्वयं गोर्की के स्थायी भाव या आवेग नहीं।

यहाँ एक प्रश्न उठता है। यदि साहित्य का काम आवेष्टनगत सौन्दर्य-असौन्दर्य—अर्थात् मूल्यों का उद्घाटन है, तो विचारकों और स्वयं साहित्यकारों को यह भ्रम क्यों होता है कि वे किसी भीतरी चीज को अभिव्यक्ति दे रहे हैं? उत्तर है—तीन कारणों से। प्रथमतः बाह्य आवेष्टन या परिवेश की अर्थवती छवियाँ हम में राग-विराग उत्पन्न करती हैं जिसके कारण हम उनकी ओर ध्यान देने को बाध्य होते हैं, अतः हमें भ्रम होता है कि हम मात्र राग-विरागों को ही प्रकट कर रहे हैं। दूसरे, हम अक्सर उन इच्छाओं एवं राग-विरागों को, जो प्रारंभ में बाह्य की प्रतिक्रिया में उदित हुए थे, स्वतंत्र रूप में कल्पना और अभिव्यक्ति का विषय बना लेते हैं। तीसरे, बाह्य रूपों का कल्पना मूलक संगठन भी हमारे मस्तिष्क में ही घटित होता है। फलतः कल्पित चित्र या संगठन आन्तरिक वस्तु जान पड़ते हैं।

यहाँ हम आवेष्टन शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में कर रहे हैं। हमारे आवेष्टन में भौतिक प्रकृति की ही नहीं, नर-नारी और उनके व्यापार ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के सब प्रकार के विचार-विकार, संशय-सन्देह, सुख-दुःख, आशाकांक्षाएँ, मानवता का सम्पूर्ण इतिहास और स्मृतियाँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार राम-कृष्ण तथा बुद्ध और ईसा की जीवनियाँ उनके भक्तों के ही नहीं, हमारे सांस्कृतिक आवेष्टन का भी महत्त्वपूर्ण भाग बन गई हैं। यही नहीं, गीतिकाव्य में स्वयं हमारे व्यक्तिगत सुख-दुःख तथा मनोविकार बन

या अनुभूति का विषय बनकर हमारे सामने आते हैं और हम उन्हें वैसे ही देखते हैं जैसे आवेष्टन के अन्य तत्वों को। उस समय उन्हें अभिव्यक्ति देने-वाला कवि (विषयी) उन्हें अनुभव का विषय बनाकर उनके सौन्दर्यासौन्दर्य की विवृति करता है। इसके विपरीत उपन्यास में इस विवृति का विषय पात्रों की मनोदशाएँ होती हैं।

आवेष्टन की यह विविधता ही विश्वसाहित्य की जटिल विविधता की व्याख्या कर सकती है। कहा जाता है, और यह ठीक भी है, कि हमारे आवेग तथा संवेदनाएँ वही रहती हैं; हमारे स्थायी भाव भी वही हैं; तो क्या यह मानना चाहिए कि साहित्य-प्रक्रिया में कोई विकास नहीं होता, और पर-वर्ती युगों के साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती काव्य-प्रयत्नों की आवृत्तिमात्र करते आये हैं? क्या आज के साहित्यकार वही कह रहे हैं, जो प्राचीन कवि कहते थे, क्या वाल्मीकि से रवीन्द्र तक मानवता ने काव्य-साहित्य के क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं की? क्या टॉल्स्टॉय और बाणभट्ट, गोर्की और दण्डी, जेम्स ज्वायस तथा गॉल्सवर्दी और सुबन्धु के उपन्यासों में एक ही बात कही गयी है, एक ही चीज अभिव्यक्त हुई है—वे ही सीमित आवेग-संवेदनाएँ, वे ही स्थायीभाव! क्या साहित्य की विशाल विविधता मात्र भ्रम है? सचमुच ही हमें यह निष्कर्ष बड़ा विचित्र, बड़ा अद्भुत अथच भ्रामक प्रतीत होता है, और हमारा विश्वास है कि आप भी उसे ग्रहण करने को तैयार नहीं हैं।

तो काव्य-साहित्य का विषय साहित्यकार की चेतना के सामने फैला हुआ आवेष्टन है, और इस आवेष्टन का प्रमुख भाग मानवता का जीवन है। यह आवेष्टन प्रत्येक युग में बदलता रहता है; इसीलिए प्रत्येक युग में नये साहित्य की जरूरत होती है। अवश्य ही आवेष्टन के कुछ भाग—भौतिक प्रकृति, नर-नारी की प्रणय-लीला, माँ और बालक का पारस्परिक संबन्ध—विशेष परिवर्तित नहीं होते, पर उन्हें देखनेवाली आँखें, उनके सौन्दर्य की विवृति करनेवाला मन बदल जाता है। इसीलिए प्रत्येक युग को अपना प्रकृति-काव्य और प्रणय-काव्य फिर से लिखना पड़ता है; इसीलिए सूर की *बाल-संबंधिनी कविता* और *रवीन्द्र के शिशु-काव्य* में भेद है।

कला-सृष्टि मानवता की एक खामखयाली चेष्टा नहीं है, वह निष्प्रयोजन भी नहीं है। कला द्वारा मनुष्य अपने आवेष्टन के उन पहलुओं को समझने की कोशिश करता है, जो उसके सुख दुःख, राग-द्वेष से घनिष्ठ रूप में सबद्ध हैं। जीवन में, आवेष्टन में, क्या शुभ है और क्या अशुभ, क्या सुन्दर है और क्या असुन्दर, इसे ठीक से देखे-जाने बिना हम अपने प्रयत्नों को ठीक दिशा में नहीं मोड़ सकते; इस प्रकार कला हमारे व्यापारों का दिशा-निर्देश करती

है। साथ ही उस अपार विश्व से जो सद्यात् हमारे प्रयत्नों का क्षेत्र नहीं है रागात्मक संबंध स्थापित करके कला हमारे अस्तित्व का प्रसार करती है। अस्तित्व की प्रसारक होने के कारण सब प्रकार की कला, शाकुन्तल की सुरभित कॉमेडी और हार्डीकृत 'टेस' की करुणा-विगलित ट्रेजेडी हमारे आनन्द का हेतु होती हैं। अतः हम मम्मट से सहमत हैं कि काव्य-साहित्य का एक प्रमुख उद्देश्य आनन्दानुभूति है।

और कला का दूसरा प्रयोजन हममें मानव-जीवन के मूल्यांकन की क्षमता उत्पन्न करता है। व्यक्ति-विशेष का जीवन जिस अनुपात में महत्त्वपूर्ण होता है, उस अनुपात में वह उसकी मूल्य-भावना से नियन्त्रित रहता है। विश्व के श्रेष्ठतम पुरुष अहर्निश जीवन-सम्बन्धी मूल्यों का अनुचिन्तन एवं अभिमत आदर्शों की उपलब्धि का प्रयत्न करते रहते हैं। जीवन और सभ्यता की जटिलतर-वृद्धि के साथ कलाकार का कार्य भी जटिलतर होता जाता है, जिसे संपन्न करने के लिए उसे अपने पूर्ववर्ती कलाकारों तथा अन्य प्रतिभामनीषियों से अधिकतम सहायता लेनी पड़ती है।

अब हमें देखना चाहिए कि किस प्रकार कलाकार अन्य कोटि के विचारकों से सहायता लेता और स्वयं मानवता के मूल्यानुचिन्तन को आगे बढ़ाता है। जड़ घटनाओं के क्षेत्र में ही नहीं, मूल्य-जगत् में भी सब प्रकार के वादों और सिद्धान्तों का आधार कतिपय तथ्य (Facts) होते हैं, जो कथंचित् प्रत्यक्ष दृष्टि से जाने जाते हैं। प्रत्येक वाद या सिद्धान्त तथ्यों अर्थात् वास्तविकताओं की व्याख्या का प्रयत्न है, और उसकी कसौटी भी तथ्य या वास्तविकताएँ ही हैं। कलाकार वादों का अध्ययन मुख्यतः अपनी दृष्टि के प्रसार के लिए करता है। स्वयं कलाकार का काम अपनी परिष्कृत दृष्टि से नई मार्मिक छवियों को प्रकाश में लाना है। देखने की बात यह है कि कलाकार की दृष्टि मुख्यतः विशेषोन्मुखी होती है। सामान्य सिद्धान्तों की अपेक्षा उसे विशेष वास्तविकताएँ ज्यादा प्रिय होती हैं, और उसकी दृष्टि प्रायः ऐसी वास्तविकताओं को ढूँढ़ निकालने की अभ्यस्त है। एक उपन्यास या नाटक के रूप में कलाकार अपनी बिखरी हुई दृष्टियों का एकत्रीकरण या समंजस संगठन कर सकता है; पर यह संगठन या समन्वय भी विचारक के सामान्य सिद्धान्त से भिन्न कोटि की चीज होता है। सारांश यह कि कलाकार की प्रतिमा सदैव मूर्त्त विधान ही करती है, अमूर्त सिद्धान्त-सूत्रों का विधान नहीं। इस संबंध में हमें क्रोचे का सिद्धान्त मान्य है।

कलाकार की दृष्टि पूर्ववर्ती विचारकों के अध्ययन से परिष्कृत और विस्तृत होती है, वह उनसे बँधती नहीं। साधारण व्यक्ति और प्रतिभाशाली का यह

एक प्रमुख भेद है। वाद या सिद्धान्त साधारण व्यक्ति का दृष्टि-विस्तार नहीं करते, वे रंगीन चश्मे की भाँति उसकी दृष्टि को विकृत कर देते हैं। इसके विपरीत प्रतिभाशाली विचारक या कलाकार वादों से आबद्ध नहीं होता, वह उनकी आधारभूत वास्तविकताओं से परिचित होकर नवीन वास्तविकताओं को देखता-खोजता आगे बढ़ जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रतिभाशाली कलाकार किसी मतवाद का पोषक या अनुयायी नहीं बन सकता।

पूर्ववर्ती विचारकों तथा कलाकारों की सहायता से अपनी दृष्टि का परिष्कार करके कलाकार फिर उस दृष्टि में विश्वास रखता हुआ आगे बढ़ता है, और स्वयं नवीन मार्मिक छवियों का उद्घाटन करके मानवता के दृष्टि-प्रसार में सहायक होता है। इस प्रकार कलाकार की क्रान्तदर्शिनी दृष्टि पद-पद पर दूसरों के तथा अपने लिए भी आश्चर्यजनक नूतनताओं का आविष्कार करती चलती है। कला नीति और धर्म-भावना की विरोधी नहीं है; पर कभी-कभी वह जीवन की ऐसी छवियों में सौन्दर्य देखने लगती है जो नीति-धर्म द्वारा अशुभ घोषित की जा चुकी हैं अथवा जिनके सम्बन्ध में आज तक के विचारक उदासीन रहे हैं। विश्व का सांस्कृतिक इतिहास बतलाता है कि ऐसे अवसर पर नैतिक-धार्मिक रूढ़ियों की अपेक्षा कलाकार का नेतृत्व अधिक विश्वसनीय होता है। कारण यह है कि कलाकार की दृष्टि अधिक संवेदनशील, जीवन से अधिक सम्पृक्त और अधिक निष्पक्ष होती है; तरह-तरह के वादों, सिद्धान्तों और तन्त्रों के प्रभाव से वह यांत्रिक नहीं बन जाती।

प्रकृति-प्रेम से हमें क्या लाभ है, इसका बौद्धिक विवरण प्राप्त किये बिना ही हम सदा से प्रकृति-काव्य का आनन्द लेते आये हैं; और फ्रायड से सहस्राब्दियों पहले से कलाकार नर-नारी के सम्बन्ध का महत्त्व घोषित करते रहे हैं। साहित्य में प्रेम-काव्य एवं प्रेम-तत्त्व की प्रधानता इस बात की द्योतक है कि नर-नारी का प्रणय एवं पारस्परिक प्रेम-भावना मानवता के अस्तित्व के लिए बहुत जरूरी है। इसी प्रकार कवियों ने वात्सल्य-भावना को जीवित रखने के लिए भी बहुत कुछ किया है। आज आप सुनते हैं कि कुछ देशों की जन्म-संख्या कम हो रही है, और वहाँ के नेता इसके लिए चिन्तित हैं, और तब शायद आपके ध्यान में आ सकता है कि मानव-सभ्यता की दृष्टि से शिशु-सम्बन्धी काव्य का क्या महत्त्व है। बर्ट्रण्ड रसेल ने कहीं कहा है कि कुछ काल बाद लोगों का बौद्धिक विकास इतना अधिक हो जायगा कि सन्तानोत्पत्ति का काम करने को बहुत थोड़े लोग तैयार हुआ करेंगे। मतलब यह है कि उन्नत बुद्धि के लोगों को नारी आकर्षित नहीं करेगी। इसका स्पष्ट फल यह होगा कि कम विकसित मस्तिष्क के लोग ही सन्तानें उत्पन्न करेंगे

और सभ्यता की प्रगति में बाधा पड़ेगी। पर मेरा विश्वास है कि मानव-जाति का प्रेम-काव्य इस दुष्ट संभावना से उसकी रक्षा करेगा।

कलाकार की मूल्य-दृष्टि सदैव स्वीकृत नीतिवाद की तुला पर नहीं तोली जा सकती, पर प्रायः वह उससे अधिक गहरी होती है। प्रगतिशील मानव-सभ्यता पुराने नीतिवादों को छोड़ती या उनमें संशोधन करती जाती है, पर प्राचीन कला-कृतियों में उसका प्रेम बढ़ता जाता है। (मनु आज पुराने पड़ गये, पर कालिदास चिर नवीन हैं)। कला जहाँ गहरी अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ वह प्रचलित नीतिवादों पर आधारित न होकर स्थायी मानव-नीति का आधार बन जाती है। शेली ने ठीक ही कहा है—**Ethical science arranges the elements which poetry has created and propounds schemes and proposes examples of civil and domestic life**;......*अर्थात् नीति-शास्त्र का काम काव्य द्वारा उपस्थापित* तत्वों को शृंखलाबद्ध करके सामाजिक एवं कौटुम्बिक जीवन के लिए योजनाएँ प्रस्तुत करना है। अन्यत्र उसी कवि ने कलाकारों को मानवता का अज्ञात नियामक (**Un-acknowledged legislators**) कहा है, जो उचित ही है।

अब यदि आप मुझसे पूछें कि क्या आज के लेखकों को मार्क्सवाद या *तथाकथित प्रगतिवाद का आश्रय लेना चाहिए, तो मेरा उत्तर स्पष्ट है।* जहाँ तक मार्क्सवाद कतिपय महत्वपूर्ण वास्तविकताओं की ओर हमारा ध्यान ले *जाता है, वहाँ तक, दृष्टि-प्रसारक होने के कारण, वह ग्राह्य है।* इसके अतिरिक्त वाद के रूप में वह कलाकार की दृष्टि को सीमित या बद्ध ही करेगा, ऐसी आशंका है। मार्क्सवाद का अनुयायी बनकर जो कलाकार प्रकृति, दाम्पत्य-जीवन एवं मा और शिशु के संबन्ध में सौन्दर्य देखने से इनकार करेगा वह स्वयं अपनी दृष्टि और कला के पूर्णोन्मेष में बाधक होगा। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पीड़ित मानवता के क्रन्दन की ओर से नेत्र और कान मूँद कर हम सभ्यता और कला का कोई उत्कर्ष नहीं कर सकते। कला का काम हमारे सम्पूर्ण आवेष्टन, सम्पूर्ण जीवन का मूल्यांकन और व्याख्या करना है। जीवन से आँख बचाकर नहीं, जीवन को उसकी पूर्णता में रागात्मक निरीक्षण और अनुभूति का विषय बनाकर ही कलाकार अपने काम को पूर्णतया संपादित कर सकता है। श्रेष्ठ कलाकार बनने के लिए अनुभूति में गहराई और व्यापकता दोनों ही गुणों का संनिवेश होना चाहिए। *महान् कलाकार अपने युग का पूर्ण प्रतिनिधि, सम्पूर्ण व्याख्याता होता है।* उसकी वाणी में युग के सारे संघर्ष, सारे राग-विराग, समस्त प्रश्न और सन्देह, मूर्तिमान् होकर बोलते या ध्वनित होते हैं।

टॉल्स्टॉय ने कहा है कि कला मनुष्यों को समान संवेदना या आवेग से अनुप्राणित कर के मिलाती या एक करती है। हम टॉल्स्टॉय के कार्य-निर्देश से सहमत हैं, पर उनके कारण-निर्देश से हमारा मतभेद है। कला मनुष्यों में एक मूल्य-दृष्टि, एक मूल्य-भावना उत्पन्न करती है जिसके फलस्वरूप वे सांस्कृतिक तादात्म्य का अनुभव करते हैं। एकता का स्थायी आधार आवेग नहीं, दृष्टि है, यह ज्ञान या भावना कि वे ही वस्तुएँ या स्थितियाँ मानवमात्र के लिए शुभ या अशुभ, सुन्दर या असुन्दर, ग्राह्य अथवा त्याज्य हैं। विज्ञान भी दृष्टि की एकता उत्पन्न करता है, पर उसकी प्रणाली दूसरी है। वस्तुतः विज्ञान और कला मनुष्यों में दृष्टिगत एकता अथवा सांस्कृतिक तादात्म्य स्थापित करने के दो महत्वपूर्ण साधन हैं जिनका महत्त्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जायगा; इसके विपरीत संकीर्ण धार्मिकता एवं नैतिकता से वियुक्त राजनीति मनुष्यों को लड़ानेवाली शक्तियाँ हैं जिनके ह्रास अथवा कम-से-कम प्रयोग में ही मानवता का कल्याण है।

युग और साहित्य

युग और साहित्य के संबंध की समस्या शायद कभी इतने उग्र रूप में सामने नहीं आयी थी जैसे कि हमारे समय में, कारण यह है कि किसी दूसरे काल में युग के नवनिर्माण का प्रश्न भी इतना जटिल और बहुमुखी रूप लेकर उपस्थित नहीं हुआ था।

यदि आज का कोई शंकाशील युवक भरत, दंडी, भामह, आनन्दवर्द्धन अथवा मम्मट के युग में पहुँचकर उन आचार्यों से पूछता—'साहित्य का राजनीति से क्या सम्बन्ध है?' तो वे संभवतः असहिष्णु होकर कहते—'राजनीति का काम राज्य-संचालन है और साहित्य का रस या चमत्कार की सृष्टि; तुम यह कैसा अनोखा प्रश्न कर रहे हो!' और यदि वही युवक दूसरी सांसमें पूछ बैठता—'आचार्य! साहित्य और नैतिक भावना में भी क्या कोई सम्बन्ध नहीं है?' तो वे शायद सिर खुजला कर उत्तर देते—'कुछ सम्बन्ध तो अवश्य है—साहित्य कान्ता-संमित उपदेश देता है—पर उसका मुख्य प्रयोजन एक ही है, आनंद; नैतिक शिक्षा देने को तो धर्मशास्त्र हैं ही।'

साहित्य का 'अर्थ' और 'धर्म' से बहुत गहरा सम्बन्ध नहीं है, उसका मुख्य ध्येय आनन्द है, इस सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों को कोई दुविधा नहीं है। और चूँकि लौकिक आनन्द का काम-भावना से विशेष सम्बन्ध है, इसलिए वामन ने निःशंक भाव से लिख दिया—'कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्य' अर्थात् काव्य में काम-विषयक तत्वों की प्रधानता रहती है; इसलिए कवि को कामशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। 'शृंगार' को रस-राज की पदवी मिलना भी इसी भावना को प्रकट करता है। भवभूति का यह उद्‌गार कि रसों में करुण की मुख्यता है, आज के विचारकों को अच्छा लगता है; पर स्वयं "उत्तररामचरित" में करुणोद्रेक का प्रधान हेतु सीता और राम का वियोग है जो शृंगार के अन्तर्गत है।

साहित्य का लक्ष्य आनन्द है यह मत आज परित्यक्त हो गया हो, ऐसा नहीं। यूरोपीय साहित्य-मीमांसक पिछली चार शताब्दियों में बराबर इस प्रश्न पर विचार करते रहे हैं कि 'ट्रैजेडी' (दुःखान्त नाटक) से आनन्द क्यों मिलता है! यह प्रश्न इसे मानकर चलता है कि साहित्य आनन्द के लिए

लिखा और पढ़ा जाता है। 'काम' और साहित्य के सम्बन्ध पर फ्रायड ने जो गौरव दिया है वह भी उक्त मान्यता का पोषक है।

युग और साहित्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है और होना चाहिए, इसे हम आज विशेष बल से महसूस करने लगे हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन काल में साहित्य का स्वरूप या कार्य कुछ भिन्न था और उसका युग से कोई लगाव नहीं रहता था। यदि ऐसा होता तो आज हम वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी की कृतियों में उनके युगों कि झलक न तो ढूंढ़ते और न पा ही सकते।

पर यह ठीक है कि प्राचीन साहित्य-विचारकों को इस लगाव की ठीक चेतना न थी। इसलिए वे साहित्य की ऐसी परिभाषाएं और उसके मूल्यांकन की ऐसी कसौटियाँ प्रस्तुत कर सके जो युग नामक वास्तविकता की पूर्ण उपेक्षा कर सकती थीं। हम संकेत कर रहे हैं कि यदि हम आज भी उन्हीं परिभाषाओं और कसौटियों पर निर्भर करते रहे तो युग और साहित्य के सम्बन्ध को हर्गिज नहीं समझ सकेंगे।

जो परिभाषाएँ उन युगों के लिए ठीक थीं वे आज के लिए 'अपर्याप्त' हैं। 'अपर्याप्त', सर्वथा निरर्थक नहीं; पाठक इस प्रभेद को याद रखेंगे। आज रस और ध्वनि की कसौटियों पर तुर्गनेव के "पिता और पुत्र", गाल्सवर्दी के "फोर्साइट सागा" अथवा प्रेमचंद के "गोदान" को ठीक से नहीं जाँचा जा सकता। और इन कृतियों का "कादम्बरी" तथा "दशकुमार चरित" अथवा "अलिफलैला" से जो महान् अन्तर है वह भी उन परिभाषाओं के आलोक में नहीं समझा जा सकता।

बात यह है कि राजनीति, आचारशास्त्र, दर्शन आदि प्रयत्नों की भाँति मनुष्य के साहित्य में भी विकास हुआ है; और साहित्य के इस विकासशील रूप को हम तब तक नहीं समझ सकते जब तक हम उसे मात्र स्थायीभावों, आवेगों या अन्वेदनाओं की अभिव्यक्ति (रसवाद-वर्ड्सवर्थ) अथवा उनके समञ्जसकरण का प्रयत्न (रिचर्ड्स) ही समझते हैं। साहित्य ये चीजें हो सकता है, शायद कुछ हद तक है; पर साथ ही हमें समझना होगा कि साहित्य मनुष्य की उसके परिवेश (Environment) के प्रति आवश्यक प्रतिक्रिया है; वह मनुष्य और उसके भौतिक-सामाजिक आवेष्टन के बीच रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का श्रम है। जब मनुष्य अपने चारों ओर के स्थूल-सूक्ष्म वातावरण को देखता-सुनता ही नहीं, बल्कि यह समझता हुआ अनुभव करता है कि यह उसके अस्तित्व के लिए सहायक या विरोधी, प्रसाद या अभिशापरूप है, तब वह उसके प्रति तीव्र रागात्मक आलोड़न का

अनुभव करता है। इस आलोड़न की क्रमबद्ध व्याख्या या अभिव्यक्ति ही साहित्य है।

दूसरे शब्दों में कहें तो साहित्य मानवीय-परिवेशगत मूल्यों के उद्घाटन का प्रयत्न है। परिवेशगत शुभ और अशुभ, सुन्दर और असुन्दर, हेय और सराहनीय की चेतना जगाकर साहित्य मनुष्य की मूल्य-दृष्टि (Sense of values) को शिक्षित और परिष्कृत करता है। इस प्रकार साहित्य मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति से सीधा सम्बन्ध रखता है।

और क्योंकि मनुष्य का परिवेश, उसका युग और वातावरण, निरंतर परिवर्तित-परिवर्धित होता रहता है, इसलिए उसे सदैव नये साहित्य-स्रष्टाओं की आवश्यकता रहती है। यही कारण है कि आज हम अतीत के महत्तम कलाकारों को पढ़कर भी पूर्णतया संतुष्ट नहीं हो सकते ; हमें नये साहित्यकारों की अपेक्षा बनी ही रहती है। बात यह है कि हमारे अपने जटिल वातावरण और उसके मूल्यों की चेतना यहीं उपलब्ध हो सकती है।

फिर प्राचीन साहित्य हमारे लिये सर्वथा अर्थहीन क्यों नहीं? इसके उत्तर में हम कहेंगे—उसी कारण से जिस कारण प्राचीन इतिहास, प्राचीन दर्शन और प्राचीन आचारशास्त्र अर्थहीन नहीं हैं। यदि आज प्लेटो और शंकर का दर्शन तथा बुद्ध और ईसा की नैतिक शिक्षा हमारे लिए अर्थवती हो सकती है तो उनके समय का साहित्य भी निरर्थक नहीं। और इस कथन से हमारा यही अभिप्राय नहीं कि वह साहित्य हमें आज भी आनन्द दे सकता है, बल्कि यह भी कि वह अब भी हमारा सांस्कृतिक परिष्कार कर सकता है।

इसके कई कारण हैं। प्रथमतः, मनुष्य के जीवनमूल्य उतनी जल्दी और उतनी समग्रता में नहीं बदलते जैसे कि उसका भौतिक वातावरण; अपनी बाहरी रूप-रेखा में आज का भारत गुप्तकालीन भारत से जितना भिन्न हो गया है उसका चतुर्थांश भी सौंदर्य और नैतिक चेतना में नहीं, अतः कालिदास की मूल्य-दृष्टि से हम काफी हद तक आज भी तादात्म्य अनुभव करते हैं। दूसरे, वे मानवी सम्बन्ध जिनमें सांस्कृतिक मूल्य प्रतिफलित होते हैं, युग-युग से बहुत-कुछ वही रहे हैं—आज भी प्रेमी-प्रेमिका एक-दूसरे के प्रति और माता-पिता शिशुओं के प्रति वैसी ही आसक्ति का अनुभव करते हैं; आज भी हम महसूस करते हैं कि जनता से गृहीत टैक्स का उपयोग जनता के लिए ही होना चाहिए न कि शासकों के आमोद-प्रमोद के लिए[1]; आज भी हम अत्याचारी के विरुद्ध खड़े हो जानेवाले वीर का

[1] तु० की० प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् (रघुवंश)।

अभिनन्दन करते हैं। तीसरे, नये युगों में जहाँ कतिपय नयी सांस्कृतिक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं, वहाँ प्राचीन समस्याएँ और समाधान भी न्यूनाधिक परिवर्तित रूपों में बने ही रहते हैं। बहुत प्राचीन काल में याज्ञवल्क्यने प्रश्न किया था—ज्ञाता सबको जानता है, स्वयं ज्ञाता को कैसे जाना जाय? आज भी यह प्रश्न रहस्यमय न हो, पूर्णतया हल हो गया हो, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार प्लेटो के जाति-प्रत्यय (universals) आज भी दार्शनिक उलझन बने हुए हैं, और नागार्जुन-श्रीहर्ष का तर्कवाद अंडले में पुनरुज्जीवित हुआ है। दुष्यंत ने अपनी एक रानी के सम्बन्ध में कहा—'उससे हमने एक बार ही प्रणय किया है।' आज भी एक से अधिक प्रेमिक-प्रेमिकाओं की समस्या लुप्त नहीं हो गयी है। इसी प्रकार जीवन-संग्राम में कर्तव्याकर्तव्य की समस्या कितने ही अर्जुनों के सम्मुख आज भी उठ खड़ी होती है।

वस्तुतः मानवीय संस्कृति का विकास एक अविच्छिन्न परंपरा है। प्रत्येक युग आगे आनेवाले युग को अपनी अर्ध-निरूपित समस्याएँ और अधूरे समाधान सौंप देता है और प्रत्येक नया युग उन समस्याओं और समाधानों पर फिरसे विचार करता है। प्रत्येक युग में कुछ नयी आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक समस्याएँ भी उठ खड़ी होती हैं। इन समस्याओं को पुरानी समस्याओं के संदर्भ (context) में प्रतिष्ठित करके सब प्रश्नों के संबद्ध समाधान का प्रयत्न उस नये युगको करना पड़ता है।

ऊपर के पैराग्राफ के अन्तिम वाक्य पर पाठक विशेष ध्यान दें। प्रत्येक युग की कुछ निराली समस्याएँ हो सकती हैं, पर कोई भी युग अतीत चिंतकों से विरासत में मिली हुई समस्याओं और उनके समाधानों की उपेक्षा नहीं कर सकता।

यही बात मनुष्य के परिवेश के सम्बन्ध में कही जा सकती है। मनुष्य का परिवेश सिर्फ आज की भौतिक परिस्थितियाँ नहीं है। सच पूछो तो आज मनुष्य की समस्या अपने को भौतिक परिवेश के अनुकूल बनाना नहीं है—यह समस्या तो वह बहुत-कुछ हल कर ही चुका है, यद्यपि आज भी वह सर्वथा उपेक्षणीय नहीं—उसके अनुकूलीकरण-प्रयत्न (Adaptation) का मुख्य विषय सांस्कृतिक परिवेश है और इस सांस्कृतिक परिवेश (Cultural Environment) में मनुष्य का सारा अतीत, सारा इतिहास समाया हुआ है।

किसी भी अतीत युग का कोई महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रयत्न, प्रश्न या समाधान, नष्ट नहीं हुआ है; वह हमारे आजके वातावरण में उपस्थित है, आज के परिवेश का भाग है। आज अपना जीवन-दर्शन बनाने के प्रयत्न में

शंकाशील जिज्ञासु उपनिषद् और गीता; धम्मपद और बाइबिल; होमर, वाल्मीकि और कालिदास; कामसूत्र और फ्रायड; डार्विन और प्रिंस क्रोपाटकिन; वाट्सन और मैक्डूगाल; हेगेल और मार्क्स; लेनिन और गांधी सबका साम्य-वैषम्य-मूलक अध्ययन कर डालता है; और फिर सबके मतों का अपने ढंग से खण्डन-मण्डन या समन्वय करने की चेष्टा करता है।

यही बात साहित्य-क्षेत्र में लागू होती है। अन्य सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं की भाँति साहित्यकार भी कोरी पटिया पर लिखना शुरू नहीं करता। वह नयी आँखों से नये सांस्कृतिक मूल्यों, नये सौंदर्य-असौंदर्य, नयी शुभाशुभ-दृष्टियों की सृष्टि या उद्‌भावना नहीं करता। इसके विपरीत उसकी सांस्कृतिक दृष्टि वैसी अतीत दृष्टियों की, उसकी सौंदर्य-चेतना वैसी अतीत चेतनाओं की, दीर्घ परंपरा में एक कड़ी मात्र है। अथवा यों कहिये कि उस दृष्टि या चेतना में अतीत दृष्टियों की, उसकी सौंदर्य-चेतना में अतीत दृष्टियों और चेतनाओं का सार-अंश समाया रहता है—जैसे, हीगल की प्रत्येक परवर्ती धारणा में अशेष पूर्ववर्ती धारणाओं का सत्य।

महान् कलाकार का असली काम अतीत और वर्तमान की समग्र मूल्य-दृष्टियों का समन्वय प्रस्तुत करना है। इसका यह मतलब नहीं कि वह क्रांतिकारी ढंग से अतीत का विरोध नहीं कर सकता; किन्तु वह विरोध केवल ध्वंस के लिए न होकर, सृजन की भावना से अनुप्राणित होगा। हीगल और मार्क्स का द्वन्द्ववाद भी इस सत्य को स्वीकार करता है।

इन विचारणाओं से जो एक बात स्पष्ट सामने आती है वह है—वर्तमान की अतीत पर निर्भरता। जिस प्रकार बालकपन शिशुता पर और तरुणाई बाल्यावस्था पर निर्भर है, उसी प्रकार आज के सांस्कृतिक प्रयत्न अनिवार्य रूप से अतीत के समान प्रयत्नों की अपेक्षा रखते हैं।

अर्थात्—जिस प्रकार अब तक के गणितशास्त्र को अधिकृत किये बिना कोई उसकी उन्नति में महत्त्वपूर्ण योग नहीं दे सकता और अतीत दर्शनों से अनभिज्ञ व्यक्ति महत्त्वपूर्ण दर्शन-पद्धति का निर्माण नहीं कर सकता, उसी प्रकार वह कलाकार जो अतीत सांस्कृतिक दृष्टियों को आत्मसात् नहीं कर चुका है, महनीय कला-सृष्टि कर सकेगा, इसकी सम्भावना नहीं है।

तो, आज का कलाकार क्या लिखेगा, उसकी समस्याएँ क्या होंगी? वह जिस परिवेश के साथ हमारा रागात्मक संबंध स्थापित करेगा उसकी [illegible]स्याएँ क्या हो सकती हैं?

प्रश्नों का उत्तर कठिन भी है और सरल भी। कठिन इसलिए कि कलाकार ही अपनी अन्तर्भेदिनी दृष्टि से निश्चय करेगा कि आज के

मनुष्य की सांस्कृतिक समस्याएँ क्या हैं; और वही उनके समाधान की रूपरेखा भी खींच सकेगा; और सरल इस अर्थ में कि विभिन्न युगों और देशों के कलाकारों के अनुशीलन द्वारा हम कलाकार मात्र के कर्तव्यों का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

आज के युग की कुछ निराली समस्याएँ हैं; आज के मानव-परिवेश में नये तत्व हैं—उनकी उपस्थिति ही नवीन साहित्य की अपेक्षा करती है; प्रत्येक कलाकार को इन नूतनताओं का ध्यान करना पड़ेगा, अन्यथा वह हमारे विशिष्ट युग का कलाकार न होगा। जो कलाकार यह सोचता है कि वह जीवन के शाश्वत तत्वों पर ही लेखनी उठाये और परिवर्तनशील आर्थिक-राजनैतिक परिस्थितियों की उपेक्षा करे, वह भयंकर भूल में है। जीवन में किसी ऐसी वस्तु की ओर इंगित करना जो निरपेक्ष रूप में ध्रुव है, असंभव है; स्वयं धरती और सौर-मण्डल की ध्रुवता भी आपेक्षिक है। साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि मानव-जीवन की प्रत्येक स्थायी प्रवृत्ति, उसकी प्रत्येक चिरन्तन भूख और भावना, प्रत्येक युग की परिस्थितियों में प्रतिफलित होती रहती है। अतएव उनकी व्यञ्जना के लिए कोई भी परिस्थिति या परिवेश अग्राह्य नहीं है।

लेकिन श्रेष्ठ कलाकार युग की निराली छवियों या समस्याओं को ही न लेगा; वह उन प्रश्नों पर भी दृष्टि रखेगा जो पिछले युगों से विरासत के रूप में चले आये हैं और जो, ऊपरी सतह पर न होते हुए भी, युग-चेतना के मर्मस्थलों में स्पन्दन कर रहे हैं। वास्तव में उच्च कला की सृष्टि जीवन की एक-दो समस्याओं को लेकर ही नहीं हो सकती; वैसी कला में युग और जीवन के समस्त जलते हुए प्रश्नों को बोल उठना चाहिए। श्रेष्ठ कलाकार की शक्ति मुख्यतः इसी में देखी जाती है कि वह जीवन की विभिन्न माँगों, उसके सहस्र प्रश्नों और शंकाओं को कितनी गहराई में जाकर एक स्पष्ट मिलन-बिन्दु पर केन्द्रित कर सका है। ऐसा मिलन-बिन्दु किसी महाकाव्य या उपन्यास का नायक भी हो सकता है और किसी देश या महाद्वीप के निवासियों का सम्पूर्ण जीवन भी। वाल्मीकि की रामायण प्रथम कोटि की रचना है, टॉल्स्टॉय की 'युद्ध और शांति' द्वितीय कोटि की; दोनों ही में वर्णित युगों के पूर्ण चित्र हैं।

महनीय कला का संबंध जीवन के कुछ इने-गिने पक्ष नहीं, जीवन की समग्रता है। यहीं राजनीति और कला में भेद है। जहाँ राजनीतिज्ञ या शासक बंगाल के अकाल अथवा नोआखाली के अत्याचारों के निराकरण के लिए कुछ दिनों तक अपनी सारी शक्ति लगा देता है वहाँ कलाकार उन्हें लेकर महाकाव्य-रचना करने नहीं बैठ जाता। वह जानता है कि महाकाव्य

का विषय सिर्फ जीवन की कुरूपता, उसकी नृशंस हत्याएँ और करुण मृत्युएँ ही नहीं हैं; वहाँ दया और ममता, साहस और बलिदान का भी स्थान है; वहाँ जीने का आनन्द और उसकी ऊर्ध्वमुखी प्रगति भी आवश्यक तत्त्व है।

इसका यह अर्थ हर्गिज नहीं कि कलाकार मानवता के तात्कालिक संकटों के प्रति उपेक्षा या उदासीनता का भाव रख सकेगा। कला-साधना का अर्थ मनुष्यत्व का बहिष्कार नहीं है। नागरिक की हैसियत से उसका यह आवश्यक कर्तव्य होगा कि वह उन सब शक्तियों के साथ जो विश्वों के त्राण का यत्न कर रही हैं अपने प्रयत्न को जोड़ दे; और अपने ढंग से वह ऐसी रचनाएँ भी प्रस्तुत करेगा जिनमें पीड़ितों की वेदना, अत्याचारियों की क्रूरता और शक्तिशालियों की उपेक्षा को मुखों से बोलकर युग की सोई हुई ऊर्ध्व-वृत्तियों को जगा सके।

'अपने ढंग से', इस विशेषण को पल्लवित करने की जरूरत है। जो कवि अपने सेनापति या जनता के युद्ध अथवा क्रांति के अवसर के लिए अभियान-गीत बनाते हैं वे अभिनंदनीय हैं। पर वे कलाकार जो जीवन की नाना परिस्थितियों के बीच साहस और वीरता, त्याग और बलिदान की भावनाओं को प्रतिष्ठित करते हैं, निन्दनीय नहीं। वास्तविकता यह है कि जहाँ प्रथम कोटि की कविता अवसर-विशेष का प्रयोजन पूरा करके प्रायः विस्मृत या विलीन हो जाती है, वहाँ दूसरी कोटि का काव्य जाति या राष्ट्र के चरित्र-निर्माण की स्थायी नींव डालता है।

यही कारण है कि जहाँ मध्ययुगीन चारणों के कितने प्रेरक युद्ध गीत उन्हीं के साथ नष्ट हो गये, वहाँ वाल्मीकि और तुलसी की कृतियाँ सदियों से, बल्कि सहस्राब्दियों से, हमारी जनता का सांस्कृतिक संस्कार करती हुई आज भी जीवित हैं। पता नहीं, भूषण की उत्तेजक स्तुतियों ने शिवाजी को कहाँ तक प्रेरणा दी और उनसे हिन्दू-जाति का कितना उपकार हुआ; लेकिन वह परीक्षक बड़ा ही स्थूल-बुद्धि होगा जो भूषण की देन की वाल्मीकि और तुलसी की लब्धियों से तुलना करने की चेष्टा करेगा।

'अपने ढंग से', इसकी दूसरी प्रकार की व्याख्या भी हो सकती है। नोआखाली के आततायियों को यह जताने के लिए कि कुसुम-कोमल बालकों पर छुरी चलाना अमानुषिक है, यही जरूरी नहीं कि उनके कृत्यों का उल्लेख करके उन्हें दस हजार गालियाँ दी जायँ—संभव है कि इस क्रिया का उन पर कुछ भी असर न हो। सम्भवतः उनकी चेतना पर सूर के बाल-काव्य की छाप देने से अधिक लाभ हो सकता है। सुन्दर के प्रति प्रेम उत्पन्न

कर देना असुन्दर से बचाने का एक प्रधान अस्त्र है; और न्याय का गहरा पक्षपात अन्याय के विरोध की ओर पहला कदम है।

इसलिए हम कतिपय आलोचकों की इस धारणा से सहमत नहीं कि वस्तुतः क्रान्तिकारी साहित्य में सिर्फ अन्याय और अत्याचारों के ही चित्र रहने चाहिएँ। श्रेष्ठ कलाकार हजार ढंग से पाठकों की चेतना का संस्कार करता है, हजार संकेतों से वह उनकी मूल्य-दृष्टि को शिक्षित या परिष्कृत बनाता है। संभवतः ऐसी एकांगी मान्यताओं को लक्ष्य करके ही महादेवीजी ने लिखा है—'आज का प्रगतिवाद मार्क्स के भौतिकवाद से प्रभावित ही नहीं वह काव्य में उसका अक्षरशः अनुवाद चाहता है।'

वास्तविकता यह है कि काव्य-विशेष उसी अनुपात में स्थायी प्रभाव उत्पन्न कर सकता है जिस अनुपात में उसने अपने कलेवर में जीवन की विशाल विविधता का समावेश किया है। उसके लिए ऐसा नियम बनाना कि उसमें सिर्फ सौन्दर्य अथवा केवल असौन्दर्य, सिर्फ न्याय अथवा केवल *अन्याय का चित्रण होना चाहिए, समीचीन नहीं। टॉल्सटॉय के उल्लिखित* उपन्यास में रूसी जनता के विविध हास-विलास, आमोद-प्रमोदभरे जीवन पर जब हम नेपोलियन के आक्रमण का वृत्तांत पढ़ते हैं—जब हम देखते हैं कि किस प्रकार उस आक्रमण ने घर-घर में पुत्र को पिता से, भाई को बहिन से, प्रेमी को प्रेमिका से बरबस विच्छिन्न कर डाला, और कैसे उसकी प्रगति ने मनुष्य के कोमल-मधुर जीवन में गहरे घाव कर दिये, तब हम युद्ध की विभीषिका का जैसा भीषण परिचय प्राप्त करते हैं वैसा इतिहास के पृष्ठों में लिखे युद्ध मात्र के वर्णन से नहीं। इसी प्रकार महाभारत के अन्त में जब हम युधिष्ठिर को सहस्रों कोमलांगी स्त्रियों के बीच से—जो अपने पतियों और पुत्रों की याद में आर्त्त कुररियों सी क्रंदन कर रहीं हैं—गुजर कर जाते देखते हैं तो युद्ध-जनित विजय के प्रति हममें एक ऐसा धिक्कार और व्यर्थता का भाव जगता है जिसका दाग़ हमारे हृदय से कभी नहीं मिट पाता।

अतः क्रांतियुग का साहित्य भी केवल क्रांति की भावना पर खड़ा न होगा—उसमें हँसी और उच्छ्वास, ममता और आसक्ति, क्रीड़ा और प्रेम सभी के लिए स्थान होगा। उसके विस्तृत क्रोड़ से धर्म और परलोक, आस्तिकता और नास्तिकता, मृत्यु और अमरता आदि विवादों का भी बहिष्कार न किया जा सकेगा। विशाल जीवन की पीठिका पर प्रतिष्ठित होकर वह मनुष्य को विविध मूल्यों की संबद्धता और सापेक्षता का परिचय करा सकेगा।

प्रत्येक युग को अपना प्रकृति-काव्य, अपना प्रेम-काव्य और अपना संघर्ष-साहित्य प्रस्तुत करना पड़ता है: आज का युग भी इसका अपवाद

न होगा। नारी या प्रेम का काव्य-क्षेत्र से बहिष्कार करके नहीं, उसके प्रति एक स्वस्थ सुगोचित दृष्टिकोण का निर्माण करके ही आज का काव्य-साहित्य मानवता का स्थायी कल्याण कर सकता है। प्रत्येक युग का मनुष्य सामूहिक मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष का उपभोग करता है; और साहित्यकार यदि कुछ पक्षों को बचाकर चलने की कोशिश करता है तो यह उसकी कार्यपरता या लगन का नहीं, अल्पप्राणता अथवा पलायत-प्रवृत्ति का ही द्योतक है।

आज के साहित्य में भी आनन्द तत्त्व का समावेश होगा, ठीक जैसे प्राचीन काव्यों में भी नैतिक-राजनैतिक मूल्यों का आकलन रहता था। किन्तु प्राचीन और नवीन का दृष्टिभेद अनिवार्य है। प्राचीन कवि आनन्द को इतना प्रधान मानता था कि उसके लिए अन्य मूल्यों की उपेक्षा कर डालता था। कुमारसंभव का सप्तम सर्ग, गुप्तोत्तर काल का अधिकांश संस्कृत-साहित्य तथा रीतिकालीन काव्य इसका प्रमाण हैं। इस उपेक्षा का कारण भी था। प्राचीन काल में जहाँ राज्यसंचालन राज्य-शक्ति का काम था, वहाँ नैतिक शिक्षा धर्म और मोक्ष-शास्त्रों के सुपुर्द थी; फलतः कवि उन क्षेत्रों में साक्षात् उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करता था। किन्तु साक्षात् दायित्व को न समझते हुए भी वह इस प्रकार के मूल्यांकनों से बच नहीं सकता था—और शासकों एवं उदारचेता ऋषियों के प्रशस्ति-मूलक वर्णनों में वह उन्हें प्रकट कर ही डालता था।

आज परिस्थिति बदल गयी है। आज का मनुष्य धर्म-ग्रंथों और आप्त वाक्यों में श्रद्धाशील नहीं रह गया है और न्यायपूर्ण शासन-व्यवस्थाओं के निर्माण और संचालन का भार भी उसी के कंधों पर आ पड़ा है। अतः आज के साहित्यकार का कर्तव्य भी नितांत जटिल हो गया है। आज का साहित्य केवल मनोविनोद या आनन्द के लिए नहीं हो सकता—वस्तुतः सत्साहित्य कभी इतने मात्र के लिए था भी नहीं—आज उसे एक पूर्ण जीवन-दर्शन, जीने की सम्पूर्ण कला का, आविष्कार और प्रतिष्ठा करनी है।

दो प्रकार से साहित्य यह कार्य निष्पन्न कर सकता है। उसे एक ओर साम्प्रतिक जीवन की विषम कुरूपताओं पर रोशनी और उसके अन्याय-विधानों पर कड़े प्रहार आयोजित करने होंगे; और दूसरी ओर, जीवन की कोमल-मधुर परिस्थितियों के बीच, आदर्श सम्बन्ध-सूत्रों से ग्रथित, एक नये मानव समाज की रूपरेखा खींचनी पड़ेगी। अवश्य ही विभिन्न कलाकार अपनी-अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार एक या दूसरा काम अधिक सफलता से अनुष्ठित कर सकेंगे, पर दोनों कोटि के साहित्यों के सामने साहित्य-साधना के ये दोनों लक्ष्य स्पष्ट अंकित रहने चाहिएँ। साथ ही समस्त

साहित्य-रसिकों और संस्कृति-प्रेमियों को याद रखना चाहिए कि सदा की भाँति आज भी सत्साहित्य का उद्देश्य न तो क्षुद्र घृणा-द्वेष, जय-पराजय आदि की भावनाओं का प्रसार है और न हल्का मनोरंजन; इसके विपरीत उसका ध्येय मानव-चेतना पर एक ऐसी जीवन-दृष्टि को अंकित करना है जो आनन्द में प्रतिष्ठित होते हुए भी प्रयत्नपूर्ण विकास के लिए और विकासोन्मुख संघर्ष के साथ मंगलमय आनन्द के लिए प्रगति और प्रेरणा दे सके।

(जनवरी, १९४७)

अतिरिक्त टिप्पणी

साहित्य दो प्रकार से लिखा जा सकता है। साधारण, कम प्रतिभावाले लेखक प्रायः स्वतन्त्र रूप से परिवेशगत अप्रवर्ती छवियों के उद्घाटन की क्षमता और साहस नहीं रखते। वे प्राचीन साहित्य के स्मृति-चित्रों के ही काल्पनिक संगठन तैयार करते रहते हैं। इसके विपरीत प्रतिभाशाली लेखक अपने युग-जीवन का स्वतंत्र उद्घाटन करता है, अतः उसकी वाणी में नवीनता रहती है।

इसका यह मतलब नहीं कि प्रतिभाशाली कोरी पटिया पर लिखना शुरू करता है। वास्तव में जीवनगत यथार्थ का उद्घाटन एक अविच्छिन्न व्यापार है जो युग युग से अनुष्ठित होता आ रहा है। प्रतिभाशाली नवीन प्रतीतियों पर गौरव देता हुआ उन्हें विरासत में मिली प्रतीतियों और विचारों के बीच प्रतिष्ठित करता है। (दे० प्रयोगशील साहित्य-प्रयोगशीलता और परंपरा)

कल्पना और वास्तविकता

पटना से प्रकाशित 'हिमालय' की चौथी पुस्तक में 'पंडितराज जगन्नाथ' शीर्षक लेख में उनका निम्न श्लोक उद्धृत किया गया है।

> तीरे तरुण्या वदनं सहासं
> नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्
> आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा
> मरन्द लुब्धालि किशोर माला।

अर्थात् 'तीर पर तरुणी का हास-गर्भित मुख है, और जल में खिलता हुआ कमल; मकरन्द-लोभी अलि-किशोरों की कतार उन्हें देखती हुई बावली-सी होकर कभी इधर दौड़ती है, कभी उधर।'

ऊपर का पद्य सुन्दर है, इसे संभवतः सब रसज्ञ पाठक स्वीकार करेंगे, किन्तु यह अथवा इस कोटि के पद्य प्रथम श्रेणी का काव्य कहे जा सकते हैं, इसमें सन्देह किया जा सकता है; और यह प्रश्न वैयक्तिक रुचि मात्र का नहीं है अपितु मूल्यांकन के मानों से सम्बन्ध रखता है।

उक्त पद्य के सौन्दर्य का उपादान क्या है? और अन्ततः वह किस कोटि का काव्य है? ये दोनों सम्बद्ध प्रश्न हैं। श्री जानकीवल्लभ शास्त्री (उक्त लेख के लेखक) ने पहले प्रश्न के समाधान में दो-तीन बातें कहीं हैं। प्रथमतः उक्त पद्य में 'सन्देह' अलंकार है; 'कमल और मुखड़े में कौन-सा सही कमल है, इसे भौंरा झटपट भाँप नहीं पा रहा है।' दूसरे, पद्य में कमल और मुख की समानता व्यंग्य है, अतः श्रेष्ठ काव्य की ध्वनिवादी परिभाषा के अनुसार भी उक्त पद्य सुन्दर है।

यहाँ प्रश्न उठता है, क्या यह सत्य है कि 'अलि किशोर माला' को तरुणी के मुख और कमल में भ्रान्ति या सन्देह होता है? इससे भी समुचित प्रश्न यह है--क्या पाठकों को भौंरों की इस भ्रान्ति का विश्वास हो जाता है? यदि वस्तुतः पाठकों को ऐसा विश्वास नहीं होता, तो उनकी रसानुभूति के हेतु 'सन्देह' के अभाव में मुख और कमल के सादृश्य की व्यञ्जना भी निरर्थक या प्रभाव-शून्य हो जायगी।

उक्त पद्य के सौन्दर्य के उपादानों का परम्परागत विवेचन पढ़ते समय एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है—क्या काव्य-साहित्य में मिथ्या-तत्व किसी प्रकार ग्राह्य हो जाता है? कहा जाता है कि साहित्यकार में भावनात्मक सचाई (Sincerity) होनी चाहिए। हमारा विचार है कि पंडितराज को स्वयं भी यह विश्वास नहीं था—उन्होंने कभी नहीं देखा था-कि भौंरों को इस प्रकार की भ्रान्ति होती है; अतः मानना चाहिए कि ऊपर के पद्य में वे जानबूझ कर झूठ बोल रहे हैं। और इस झूठ द्वारा न केवल वे अपनी कोई हानि नहीं करते, बल्कि अलंकारशास्त्र के अनुसार श्रेष्ठ काव्य का सृजन करते हुए प्रशंसापत्र बन जाते हैं। इससे साफ निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में भावनात्मक सचाई अपेक्षित नहीं है, और वहाँ मिथ्या-तत्व भी कथंचित् ग्राह्य बन जाता है।

शायद आपको यह निष्कर्ष प्रिय नहीं लगता; हमें भी यह प्रिय नहीं है। हम उसे अग्राह्य या भ्रान्त भी समझते हैं। यहाँ हम स्पष्ट कर दें कि हमारा विवाद पंडितराज के पद्य-विशेष तक सीमित नहीं है, उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है और उसके निपटारे के साथ संसार के आधे से अधिक अच्छे समझे जानेवाले साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न जुड़ा है। हमारे इस कथन की आंशिक परीक्षा के लिए आप संस्कृत अलंकार-शास्त्र के दर्जनों ग्रन्थों को उलट जाइए; आप पायेंगे कि उनमें शतशः पद्यों की इसी प्रकार मिथ्या-मूलक प्रशंसा की गयी है। स्वयं पंडितराज को मिथ्या कल्पनाओं से विशेष प्रेम है। एक जगह गङ्गाजी के जल-स्पर्श का महिमागान करते हुए वे कहते हैं—'प्रभात में नहाती हुई नृपांगनाओं के कुच-प्रदेश में लगी हुई कस्तूरी (मृगमद) जब तक तेरे जल से छूती है, तब तक शतशः वैमानिकों से घिरे हुए (वे) मृग (जिनकी कस्तूरी लगायी गयी थी) विमल-वपु होकर स्वच्छन्द स्वर्ग में प्रवेश कर जाते हैं!' (मृग-गण यदि गङ्गा जल का सद्यात् स्पर्श करते तो शायद इन्द्र से भी ऊँचे उठ जाते!)

तो क्या पंडितराज की कृतियाँ नितान्त मूल्यहीन हैं? और क्या उनका उद्धृत पद्य सुन्दर नहीं है? हमारा उत्तर कुछ इस प्रकार होगा—पंडितराज के पद्य में सौन्दर्य अवश्य है, पर उसका उपादान मिथ्या-तत्व नहीं है। यह मिथ्यांश (अलंकार) हलके चमत्कार का, जो प्रकृत रसानुभूति से भिन्न है, कारण अवश्य है। मिथ्यांश के समावेश के कारण उक्त पद्य की गणना प्रथम श्रेणी के काव्य में नहीं हो सकती। हमारी यह दूसरी मान्यता अधिक स्पष्ट हो जायगी यदि हम कह दें कि सामान्यतः पंडितराज की कृतियाँ—

'भामिनीविलास' और 'गङ्गालहरी'—उतनी महनीय नहीं हैं जितना कि कालिदास का 'मेघदूत'। जहां 'मेघदूत' उच्चतम अथवा प्रथम श्रेणी का काव्य है वहां पंडितराज की कृतियां द्वितीय कोटि के काव्य में भी कठिनता से परिगणित हो सकती है।

हमारी धारणा है कि काव्य-साहित्य की शक्ति और श्रेष्ठता का एक मात्र उपादान जीवन एवं जगत की मार्मिक छवियां हैं। उद्धृत पद्य सुन्दर क्यों है? क्यों कि उसमें तीन ऐसे चित्र अथवा छवियां शब्दों द्वारा अंकित की गयी हैं जो मानव हृदय में न्यूनाधिक रागात्मक स्फुरण उत्थित करती हैं; ये तीन चित्र 'तरुणी का हास-गर्भित मुख', 'खिलता हुआ कमल' और 'मकरन्द लोलुप प्रधावित अलिकिशोर माला' हैं। तीनों ही चित्र आकर्षक हैं, उनमें पहला संभवतः सबसे अधिक आकर्षक है। पद्य की कलात्मक सफलता इसमें है कि वह हमारी चित्तवृत्ति को इन तीन चित्रों में रमाये रखता है।

'चित्र' शब्द के प्रयोग से पाठक यह न समझें कि मार्मिक छवि कोई दृश्य वस्तु ही हो सकती है, मार्मिक मनोभाव का अंकन भी उतना ही प्रभावशाली होता है, जैसे तुलसी की इन पंक्तियों में—

ते पितु मात कहौ सखि कैसे।
जिन पठए बन बालक ऐसे॥

अब पंडितराज के अनूदित पद्य को लीजिए। यहाँ नृपति-रमणियों की कुच-तटी का संकेत आकस्मिक नहीं है, पंडितराज महसूस करते थे कि इस आकर्षक चित्र के बिना गङ्गाजल का स्तवन धुरी-हीन हो जायगा।

हमने ऊपर कहा कि काव्य-साहित्य में जीवन और जगत की मार्मिक छवियों का प्रकाशन होता है। हमें यह जोड़ना है कि इन छवियों को परस्पर सम्बद्ध कर देना भी आवश्यक होता है। किसी भी दशा में चित्रों का जमघट खड़ा कर देना पर्याप्त नहीं हो सकता। मनुष्य क्यों विश्व की छवियों को सम्बन्धित करके देखना चाहता है, मालूम नहीं; शायद यह उसका स्वभाव है। इस स्वभाव की सबसे प्रबल अभिव्यक्ति संसार की विभिन्न दार्शनिक व्याख्याओं में मिलती है। काव्य-साहित्य में भी रसज्ञ पाठक जीवन के मर्म-चित्रों को सम्बन्ध-सूत्र में पिरोये हुए देखना चाहता है। संसार के श्रेष्ठतम कलाकार इन चित्रों या छवियों का जो सम्बन्ध क्रम प्रस्तुत करते हैं वह पाठकों को यथार्थ ही मालूम पड़ता है। महाकवियों को पढ़ते समय हमें लगता है मानो वे जगत का यथार्थ चित्र उतार रहे हैं; जैसे वे अपनी तरफ से कुछ न कह कर, सहृदयों की अनुभूति को ही शब्दों द्वारा मूर्त बनाकर रख देते

है। यह नहीं कि श्रेष्ठ कवि या कलाकार नव-निर्माण नहीं करते, किन्तु वह निर्माण यथार्थ के नियमों से नियन्त्रित होता है और यथार्थ जीवन का चित्र-सा मालूम पड़ता है। रघुवंश के अज का विलाप, रामायण के भरत, लक्ष्मण राम आदि के व्यापार हमें ऐसी ही यथार्थ घटनायें मालूम पड़ती हैं। इन काव्यों में पौराणिक गाथायें भले ही रहें, किन्तु कवि-कल्पित मिथ्या का अंश बहुत कम दिखाई पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रेष्ठ काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का विधान नहीं होता; पर वहाँ यह विधान मिथ्या तत्व को बलपूर्वक सत्य घोषित करने की धृष्टता नहीं करता। जब तुलसीदास कहते हैं—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी।
मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥

तब वे हमसे यह झूठी बात मानने को नहीं कहते कि रोष-भरी कैकेयी तरंगित नदी है, वे 'मानहु' शब्द से उसके साम्य का संकेतमात्र करते हैं। दूसरी देखने की बात यह है कि तुलसी की यह उपमा (या उत्प्रेक्षा) यत्नपूर्वक उपजाई हुई अथवा कृत्रिम, अविश्वसनीय सम्बन्ध की स्थापना करती हुई, नहीं मालूम पड़ती। इसके विपरीत पंडितराज के पद्यों में जबर्दस्ती कतिपय घटनाओं पर सम्बन्धारोपण करने की चेष्टा की गयी है।

यह कृत्रिम सम्बन्ध-स्थापन भी हमें बुरा नहीं लगता, बल्कि कुछ अच्छा ही लगता है, इसका कारण हमारी वह चिरन्तन कमजोरी है जो हमें सम्बन्धों की खोज में प्रवृत्त करती है। यथार्थ सम्बन्ध-सूत्र के अभाव में पाठकगण, जो स्वयं निष्क्रिय अथवा अकर्मण्य गृहीता की स्थिति में होते हैं, कृत्रिम लगाव की स्थापना से ही सन्तुष्ट होने की चेष्टा करते हैं। अवश्य ही कृत्रिमता और यथार्थ के दर्जे हैं; 'चन्द्रकान्ता' की अपेक्षा 'रंगभूमि' और उसकी अपेक्षा 'गोदान' अधिक यथार्थ हैं। किन्तु कुछ काल के लिये 'चन्द्रकान्ता' भी हमारा मनोविनोद करती ही है। अवश्य ही यह मनोविनोद नीची कोटि का होता है।

लोक में उस व्यक्ति को जो सभा-समाज में बैठकर तुरन्त किसी बात का उत्तर सोच लेता है, हाजिर-जवाब अथवा विदग्ध (Witty) कहते हैं। यह विदग्धता प्रायः कृत्रिम सम्बन्धों के दर्शन या स्थापन द्वारा सम्पन्न होती है। जीवन की भाँति काव्य में भी विदग्धता पसन्द की जाती है; पर न जीवन में न साहित्य में विदग्ध व्यक्ति की गणना मानवता के श्रेष्ठतम नेताओं में की जा सकती है। बीरबल कभी अकबर का समकक्ष नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह है कि श्रेष्ठतम काव्य की सृष्टि के लिए विदग्ध अथवा निपुण कल्पना पर निर्भर नहीं किया जा सकता।

हमने कहा कि ऊपर के श्लोक में अनुभव-जगत की वस्तुतः मार्मिक छवियों को कल्पित सम्बन्ध द्वारा जोड़ने की चेष्टा की गयी है। यदि सम्बद्ध छवियाँ स्वतः मार्मिक (अर्थात् हृदय में रागात्मक स्पन्दन जगानेवाली) न होतीं तो यह पद्य इतना सुन्दर भी न होता। पद्य में रसोद्रेक की जितनी भी क्षमता है वह वस्तुतः मार्मिक चित्रों के समावेश से आयी है; उसमें पाया जाने वाला कृत्रिम सम्बन्ध-सूत्र मात्र बुद्धि को चमत्कृत कर सकता है।

अवश्य ही कालिदास, सूर, तुलसी आदि में उस शक्ति की कमी है जिसे हम विदग्ध कल्पना कह आये हैं; अथवा यों कहिये कि वे इस प्रकार की कल्पना का उपयोग नहीं करते या बहुत कम करते हैं। इसका तीव्र अनुभव आप 'रघुवंश' और 'शिशुपाल वध' के प्रथम सर्गों तथा रामायण के 'अयोध्याकाण्ड' को पढ़कर कर सकते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उक्त कवियों में वांछनीय कल्पना-शक्ति का अभाव है। तथ्य यह है कि उनकी कल्पना कृत्रिम संबंधों और आरोपों की सृष्टि में न लगकर अनुभव-जगत से उठायी हुई वस्तुतः मार्मिक छवियों के मार्मिक संगठन में प्रवृत्त होती है। मर्म छवियों का ऐसा संगठन 'सिर उछाल उछाल कर' अपना अस्तित्व घोषित नहीं करता; वह पाठकों को यथार्थ जगत का अंग या चित्र ही मालूम पड़ता है। अज-विलाप के सबसे प्रसिद्ध पद्यों में कालिदास ने प्रेमी पति के दृष्टि बिन्दु पर खड़े होकर उन अनेक गहरे अभावों को एकत्र चित्रित कर दिया है जो प्रियतमा के मरने से जीवन को घेर लेते हैं, वहाँ उनकी वाणी में किसी प्रकार की वक्रता नहीं है—

> धृतिरस्तमिता रतिरच्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः
> गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे !
> गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ
> करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किन्न मे हृतम्।

'मेरा धैर्य या प्रतीति जाती रही, मेरी क्रीड़ा समाप्त हो गई गायन-वादन बन्द हो गया, ऋतुएँ उत्सवहीन हो गई ; अब मेरे लिये सुन्दर वस्त्राभूषणों का कोई प्रयोजन नहीं रहा ; मेरी शय्या सूनी हो गई। मेरी गृहिणी, मेरी सचिव, मित्र, ललित कलाओं की प्रिय शिष्या—निष्करुण मृत्यु ने तुझे छीन कर मेरा क्या नहीं छीन लिया !'

परिशून्यं शयनीयमद्य मे—अब मेरी शय्या सूनी हो गई—गहन करुणा जगानेवाली इस पंक्ति पर विदग्ध प्रतिभा की हजार उक्तियाँ न्योछावर हैं ! ऐसी ही मीरा की तड़पनेवाली पंक्ति है—

हेरी मैं तो प्रेम दिवानी मेरा दरद न जाने कोय !

मर्म छवियों का मार्मिक संगठन उच्चतम काव्य को जन्म देता है ; उनके निपुण अथच कृत्रिम संगठन से द्वितीय श्रेणी की कला-सृष्टि होती है ; तृतीय श्रेणी का काव्य वह है जिसमें विदग्ध कल्पना अमार्मिक चित्रों का निपुण संगठन प्रस्तुत करती है। जब रवीन्द्रनाथ प्रश्न करते हैं—The sleep that flits on baby's eyes—does any body know from where it comes ? (अर्थात् 'शिशु की आँखों पर मँडराती हुई नींद—कोई जानता है वह कहाँ से आती है ?) तब वे एक प्रथम श्रेणी के कलाकार हैं, क्योंकि वे हमारा ध्यान एक सर्वानुभूत सौन्दर्य की ओर आकृष्ट कर रहे हैं—सोते बालक की मुखच्छवि प्रत्येक सहृदय को प्यारी लगती है ; पर जब वे इस नींद के एक कृत्रिम, निराले उद्गम का निर्देश करने लगते हैं तो उनकी कला दूसरे धरातल पर उतर आती है—

Yes, there is a rumour that it has its dwelling where, in the fairy village among shadows of the forest dimly lit with glow-worms, there hang too timid buds of enchantment. From these it comes to kiss the baby's eyes.

विदग्ध कल्पना का यह उत्कृष्ट उदाहरण है, पर यह उच्चतम काव्य से उतना ही, और उसी लिए, निकृष्ट है जितना कि, और जिस लिए, स्वप्न से जागरण, कल्पना से उपभोग। आगे शिशु की मुसकान के सम्बन्ध में वैसा ही प्रश्न करके रवि बाबू कहते हैं—

Yes there is a rumour that a young pale beam of a crescent moon touched the edge of a vanishing autumn cloud, and there the smile was first born in the dream of a dew-washed morning—the smile that flickers on baby's lips when he sleeps.

इस काव्य खण्ड की अन्तिम पंक्ति ही—मुस्कुराहट जो सोते हुये शिशु के अधरों पर खेलती है—हमें सब से सुन्दर लगती है। सम्भवतः संसार के सब माता-पिताओं ने इसका मूक-मधुर अनुभव किया होगा। किन्तु कवि ने जो इस मुसकराहट का शरदभ्र-कोर को छूने वाली चन्द्र-किरण तथा हिम-क्लिन्न प्रभात के स्वप्न से सम्बन्ध जोड़ा है, वह सामान्य अनुभव से बाहर की वस्तु है।† प्रश्न यह है कि कल्पना से इतना आयास कराने पर भी

† रवीन्द्र के गीत में पहले पद्य या पैराग्राफ से दूसरा श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें निबद्ध शिशुच्छवि अधिक आकर्षक है। शिशु की स्मिति-संबंधिनी प्रतीति सचमुच नितान्त सुकुमार और नवीन है।

क्या रवि बाबू उससे अधिक सुन्दर चित्र उपस्थित कर पाए हैं जो कि सूर की इन सीधी-सादी पंक्तियों से सामने आ जाता है।

सोभित सुकपोल अधर अल्प-अल्प दसना
किलकि-किलकि बैन कहत मोहन मृदु रसना

सूर की पंक्तियों में सौन्दर्य पुंजीभूत और सुगम है; रवीन्द्र की कविता में वह बिखरा हुआ है और उसे देखने के लिए कल्पना का व्यायाम अपेक्षित है। सूर की पंक्तियाँ हमारा ध्यान सीधे सौन्दर्य के मुख्य केन्द्र तक ले जाती हैं, इसके विपरीत रवीन्द्र की कविता हमें इधर-उधर घुमाने के बाद फिर केन्द्र पर वापिस लाती है। इस यात्रा द्वारा हम कुछ अन्य सुन्दर चीज़ों को भी देख लेते हैं; पर वे मूल चित्र का सौंदर्य बढ़ानेमें—उस सौंदर्य को अधिक आकर्षक बनाने में—सहायक होती हैं, इसमें संदेह है। सूर की पंक्तियों का हम चुपचाप रस लेते हैं—वे हमारे अन्तस् को अनिर्वाच्य रूप-माधुरी में लीन कर देती हैं—इसके विपरीत रवीन्द्र की कल्पनाएँ हमसे दाद माँगती प्रतीत होती हैं। दोनों का एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहां सूर की दो पंक्तियां शिशु की अनेक यथार्थ छवियों से रागात्मक संबंध जोड़ने में समर्थ होती हैं वहां रवीन्द्र का काव्य-खण्ड केवल एक ही छवि हमारे सामने लाता है अर्थात् सोते शिशु के अधरों पर खेलती मुस्कराहट। सूर ने सचमुच दो पंक्तियों में शिशु का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित कर दिया है—सुकपोल अधर अल्प अल्प दसना, किलकि किलकि बैन कहत मोहन मृदु रसना। रवीन्द्र ने भी अनेक चित्र खड़े किये हैं, पर वे सब बालक से संबंध नहीं रखते। जहां सूर के विभिन्न चित्र स्वभावतः संबद्ध हैं, वहां रविबाबू के चन्द्रकिरण, शरदभ्र आदि चित्र प्रगल्भ कल्पना द्वारा एकत्रित एवं सम्बद्ध कर दिये गये हैं।

यहाँ पाठक यह न समझें कि हम रवीन्द्र के अलङ्कार-विधान अथवा मुस्कराहट के कारण-निर्देश की शिकायत कर रहे हैं। शिकायत हमें इस बात से है कि उनकी कल्पना प्रकृत अनुभूति का कुछ अधिक अतिक्रम कर गयी है। अवश्य ही रवीन्द्र की चमत्कारोक्ति के मूल में प्रकृत प्रेरणा या अनुभूति है; उस अनुभूति का विषय अनुमान-जात दो सुन्दर इकाइयों (Entities) (अवस्था-विशेष में ठिठकने वाली चन्द्रकिरण और सोते शिशु की स्मिति) का सादृश्य है। इस सादृश्यानुभूति को एक सीधी, सहज उपमा द्वारा व्यक्त, किया जा सकता था; यह भी कहा जा सकता है कि वह किरण ही स्मिति रूप में परिणत हो गयी है। उस दशा में, शायद, पाठक का चित्त रसानुभूति से हट कर चमत्कृतिक कुतूहल में इतना नहीं उलझता। किंतु ऐसा न करके रवि

बाबू अपनी प्रेरणात्मक (Inspired) प्रतीति को बड़े सचेतन भाव से सजाकर रखने के लोभ में पड़ गये हैं। इसी लिए उनकी उक्ति प्रयास- गठित मालूम पड़ती है और उसमें स्वतः स्फूर्त काव्य की अनिवार्यता का अभाव है। इसके विपरीत सूर की पंक्तियां सहज-उत्सृष्ट मालूम पड़ती हैं। ऐसा ही तुलसी का निम्न अवतरण भी है; उसकी उपमायें हमें भावानुभूति से अलग होकर आकर्षित नहीं करती—

सुनि मृदु वचन भूप हिय सोकू
ससि कर छुअत विकल जनु कोकू।
गयउ सहम नहिं कछु कह आवा
जनु सचान वन झपटेउ लावा।
बिवरन भयउ निपट नरपालू
दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।

दशरथ का वर्णन करने वाली ये पंक्तियां हमसे उर्दू-काव्य की भांति दाद नहीं मांगती, वे केवल हमारे हृदय में एक मर्म-चित्र उतार देती हैं। हमारा विश्वास है कि ऐसा ही काव्य उच्चतम कला कहलाने का अधिकारी है। ऐसे काव्य को गठित करने वाली कल्पना को हम यथार्थ कल्पना कह सकते हैं। महाकवियों की वाणी अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग के निर्माण के लिए मानवता के वास्तविक अनुभव-जगत से उपादान ग्रहण करती है इसी लिए वह जीवन की भांति सर्व-ग्राह्य और गम्भीर होती है। काव्य-साहित्य का उद्देश्य मानव-हृदय में जीवन के मूल्यों के प्रति गहरी प्रतिक्रिया जगा कर उसे अधिक गंभीर रूप में जीवन्त बनाना है, मात्र मनोरंजन करना नहीं।

विश्व-साहित्य में सदैव से वे ही लेखक महान कलाकार कहलाते रहे हैं जिनका जीवन के राग-विरागों एवं उनकी परिस्थितियों से विस्तृत तथा गहरा परिचय था। वाल्मीकि और होमर, तुलसी और दान्ते, कालिदास और शेक्सपियर तथा आधुनिक काल में टॉल्स्टॉय और दास्ताईवस्की ऐसे ही कलाकार हैं। किन्तु जीवन का विस्तृत परिचय गहरी समवेदना और व्यापक अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखता है, और उन्हें प्राप्त करने के लिए जिस दीर्घ साधना की जरूरत है उसे विरले ही अनुष्ठित कर सकते हैं। इसके विपरीत कल्पना की कलाबाजी को साधना की अपेक्षा नहीं; थोड़ी-सी विदग्धता उसके लिए पर्याप्त संबल है।

दुःख की बात है कि गत दो दशाब्दों में हिन्दी कविता सूर और तुलसी के दिखाये हुए जीवनानुमोदित राजमार्ग को छोड़कर कल्पना की कुटिल पगडंडियों में बहती-उलझती रही है। यही कारण है कि उसमें उष्णता

और प्राणवत्ता की इतनी कमी है। जन जागृति के इस युग में अब यह और भी आवश्यक हो गया है कि हमारे कविगण जीवन और साहित्य के निकट सम्बन्ध को समझें और अपनी वाणी को चित्र-विचित्र कल्पनाओं की क्रीड़ास्थली न बन जाने दें। इस सम्बन्ध में वे आलोचक भी कम दोषी नहीं हैं जो युग-युग में अतिशयोक्तियों और वक्रोक्तियों की प्रशंसा करते हुए हवाई कल्पना-सृष्टि को पनपने का अवसर देते रहे हैं। (जनवरी, १६४७)

अतिरिक्त टिप्पणियाँ

उक्त लेख में जो स्थापना की गई है वह इन निबन्धों की केन्द्रगत मान्यता है। हमारे साहित्यिक विकास की इस भूमिका में वह एक क्रान्तिकारी धारणा भी मालूम पड़ सकती है। रवीन्द्र जैसे मान्य कलाकारों के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत परंपरा-विरोधी मत प्रकट करने के कारण उक्त निबन्ध कुछ भ्रान्तियों को भी जन्म दे सकता है। कुछ लोग शायद यह भी समझें कि निबन्धगत निर्णय क्षणिक आवेश अथवा निराली बात कहने के उत्साह में आकर दे दिये गये हैं।

निबन्ध की कमजोरी यह है कि वह दो-चार उद्धरणों के विश्लेषण द्वारा अपना मन्तव्य स्थापित करना चाहता है। वास्तव में तद्गत मान्यता या मान्यताएँ साहित्यिक इतिहास की विस्तृत पीठिका में ही आँकी या परीक्षित की जा सकती हैं।

उदाहरण के लिये पंडितराज के उद्धृत पद्य के विश्लेषण में गलती भी संभव है और उस विश्लेषण के लिये सहानुभूति प्राप्त करना भी कठिन है, पर यह निर्णय अपेक्षाकृत अधिक सरलता से ग्राह्य होगा कि 'भामिनी विलास' अथवा 'गंगालहरी' की अपेक्षा 'मेघदूत' महत्तर काव्य है। इसी प्रकार विशिष्ट पद्यों के तुलनात्मक निर्णय की अपेक्षा यह देखना (हमारी समझ में) अधिक आसान है कि सूर का बाल-वर्णन रवीन्द्र के बाल-काव्य से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

यहाँ हम पाठकों को सूचित करें कि अंग्रेज आलोचक टाम्सन ने अपनी रवीन्द्र-विषयक वृहत् पुस्तक में उन्हें कीट्स् आदि की श्रेणी का कलाकार कहा है, मिल्टन और शेक्सपियर की कोटि का नहीं। Quest of Beauty नामक पुस्तिका के बंगाली लेखक को भी यह मानना पड़ा है कि रवीन्द्र उच्चतम कोटि के कवि, अर्थात् शेक्सपियर और गेटे के समकक्ष, नहीं हैं।

रवीन्द्र की एक बड़ी कमी यह है कि वे अपनी अनुभूतियों को प्रायः पुंजीभूत रूप में व्यक्त नहीं कर सके। एक-एक चित्र को लेकर वे लम्बी उड़ानें भरने लगते हैं। उनके काव्य में चमत्कार है, चित्रों की क्रीड़ा है,

पर दृढ़ संगठन और ओज की कमी है। शब्दों के सम्बन्ध में वे मितव्ययी भी नहीं हैं। सशक्त चित्र, दृढ़ता, एवं सघन भाव-योजना उनमें कहीं-कहीं ही पाई जाती है, जैसे "उर्वशी" में। उनकी गद्य-कृतियों में भी नियोजित विचारों की विरलता विवेकशील पाठकों को खलती है।

'गीताञ्जलि' की जिस कविता से ऊपर दो उद्धरण लिये गये हैं उसमें कुल मिला कर बीस से अधिक पंक्तियां हैं। इतनी पंक्तियों में सघन भाव-योजना का अभ्यस्त कवि कितना विपुल सौंदर्य-चित्र खड़ा कर सकता है इसका अनुमान निम्न अवतरणों से हो सकेगा।

(१) साँवरो मनमोहन माई

देख सखी बन ते ब्रज आवत सुन्दर नन्दकुमार कन्हाई।
मोर-पंख सिर मुकुट विराजत, मुख मुरली धुनि सुभग सुहाई
कुंडल लोल, कपोलनि की छवि, मधुरी बोलनि बरनि न जाई।
लोचन ललित, ललाट भृकुटि बिच तकि मृगमद की रेख बनाई
मनु मरजाद उलंघि अधिक बल उमँगि चली अति सुन्दरताई।
कुंचित केस सुदेस कमल पर मनु मधुपनि-माला पहराई
मंद-मंद मुसकानि मनौ घन दामिनि दुर-दुर देत दिखाई।
सोभित सुर निकट नासा के अनुपम अधरनि की अरुनाई
मनु सुक सुरंग विलोकि बिंब फल चाखन कारन चोंच चलाई।

(२) नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम

लाजहिं तन सोभा निरख कोटि कोटि सत काम।
सरद मयंक बदन छवि सींवा, चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा।
अधर अरुन रद सुन्दर नासा, बिधु कर निकर विनिन्दक हासा।
नव अंबुज अंबक छवि ऐसी, चितवनि ललित भावती जी की।
भृकुटि मनोज-चाप छविहारी, तिलक ललाट पटल दुतिकारी।
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा, कुटिल केस जनु मधुप समाजा।
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला, पदिक हार भूषन मनिजाला।
केहरि कंधर चारु जनेऊ, बाहु विभूषन सुन्दर तेऊ।
करि कर सरिस सुभग भुजदंडा, कटि निषंग कर सर कोदंडा।
तड़ित-विनिन्दक पीतपट उदर रेख बर तीन
नाभि मनोहर लेत जनु जमुन भँवर छवि छीन।

(राम चरित मानस बालकाण्ड)

हमारी मान्यता के अनुसार महाकवि अथवा प्रथम श्रेणी का कलाकार कहलाने का अधिकारी वही हो सकता है जिसकी यथार्थ विषयक दृष्टि अपार-

असीमित जान पड़ती है, जिसकी वाणी में जीवनानुभूति का समुद्र लहराता प्रतीत होता है।

काव्य में चमत्कार

काव्य-साहित्य में चमत्कार की सृष्टि बुद्धि या प्रतिभा के प्रकाशन द्वारा होती है। चमत्कार का ही दूसरा नाम वाणी की विदग्धता अथवा उक्ति-वैचित्र्य है। यमक, श्लेष आदि अलंकार लेखक के शब्द प्रयोग-विषयक चातुर्य का प्रमाण देते हैं। अतिशयोक्ति (अतिरंजित प्रशंसा के लिये), व्याजनिन्दा अथवा व्याजस्तुति भी वैसी ही प्रतिभा को प्रकट करते हैं। अलंकारों का दूसरा काम वस्तु-चेतना को विशद बनाना है। (देखिए, 'अलंकार और ध्वनि' पर वक्तव्य)। 'वक्रोक्ति-जीवित' का सिद्धान्त इस तथ्य या अनुभूति पर आधारित है कि साहित्य में विदग्धता-मूलक चमत्कार की उपस्थिति सहृदयों को रुचती है।

प्रतिभा-मूलक चमत्कार की भी कोटियाँ हैं, उसका समावेश प्रकृत भी हो सकता है और अप्रकृत या अस्वाभाविक भी। जीवन में प्रतिभा या बुद्धि प्रयोजन-सिद्धि का अस्त्र है; उसका काम लक्ष्य-प्राप्ति के नूतन उपायों की खोज लेना है। रीतिकाव्य के प्रेमी नायक रूठी हुई मानवती अथवा खंडिता नायिका को मनाने के लिये तरह-तरह की चाटूक्तियाँ करते हैं—विविध अतिशयोक्तियों द्वारा नायिका की प्रशंसा कर के उसे अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रतिभा या बुद्धि का प्रकृत उपयोग है। श्रेष्ठ काव्य में प्रतिभा का उपयोग किसी मनोरम प्रयोजन की पूर्ति के लिये कराया जाता है। उदाहरण के लिये "शाकुन्तल" में सखियाँ बहाना कर के दुष्यन्त और शकुन्तला को अकेले छोड़ जाती हैं।

विदग्धता का दूसरा प्रकृत उपयोग परिहास में होता है; जैसे, राम को तल्लीनता से देखती हुई सीता के प्रति सखी की प्रसिद्ध उक्ति—पुनि आउब एहि बिरियाँ काली—में। ऐसा ही परिहास सुनन्दा ने अज में आसक्त इन्दुमती से—आर्ये अब अन्य ओर चलें! (आर्ये व्रजामोऽन्यतः)—कह कर किया है।

प्रतिभा-मूलक विदग्धता का ऐसा उपयोग साहित्य का शृंगार है।

यमक, श्लेष आदि के विधान में उक्ति-चातुर्य या विदग्धता का अप्रकृत उपयोग होता है। नायिका को मना लेना एक मनोज्ञ प्रयोजन है; व्याकरण के रूपों (भट्टि काव्य) अथवा द्व्यर्थक या अनेकार्थक शब्दों की जानकारी का प्रगल्भ परिचय देना (कादम्बरी, राघवपाण्डवीय) वैसा सरस प्रयोजन नहीं है। विदग्ध पात्र या पात्रों की सृष्टि प्रतिभा का प्रकृत उपयोग है;

वस्तु-वर्णन में पद-पद पर कलाकार का अपनी विदग्धता प्रदर्शित करते चलना अपेक्षाकृत हलकी रुचि का द्योतक है।

सूरदास ने 'भ्रमर गीत' में गोपियों की विदग्धता का प्रकाशन किया है, और बाल-वर्णन में यथास्थान कृष्ण की चतुराई का। शिशु कृष्ण का वर्णन करते समय अपनी विदग्धता का प्रदर्शन उन्होंने नहीं किया है। इसके विपरीत उन्होंने विभिन्न परिस्थितियों में कृष्ण के सजीव मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित किये हैं।

वस्तु-चेतना को विशद बनाने वाले अलंकार भी कभी-कभी चमत्कारपूर्ण लगते हैं, पर यह चमत्कार भिन्न कोटि का होता है। वह हममें 'वाह' की प्रतिक्रिया नहीं जगाता जैसा कि विदग्धता-मूलक चमत्कार करता है। 'खूब कहा है', यह प्रतिक्रिया विदग्ध उक्ति के प्रति होती है, वस्तु से हटा कर वह हमारा ध्यान वक्ता की ओर आकृष्ट करती है। इसके विपरीत चेतना-विकासी अलंकार हमारा ध्यान वस्तु-चित्र पर संलग्न रखते हैं।

प्रायः महाकवि हमारे मन को प्रस्तुत सामग्री में रमाते हैं। अन्य कवि ही विदग्धता का विशेष प्रदर्शन करते हैं। निम्न वन्दना-श्लोकों की तुलना कीजिए:—

> वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये,
> जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।
>
> (कालिदास)

और

> भ्रमरीकबरीभारभ्रमरीमुखरीकृतम्,
> दूरीकरोतु दुरितं गौरीचरणपङ्कजम्।
>
> (कुवलयानन्द)

अथवा

> परस्पर तपःसंपत्फलायितपरस्परौ,
> प्रपंच माता पितरौ प्राञ्चौ जायापती स्तुमः। (वही)

❀ ❀ ❀

शायद लेख में पंडितराज के उद्धृत पद्य के साथ पूरा न्याय नहीं किया गया है। उसे बार-बार पढ़ना प्रिय लगता है। बात यह है कि मकरन्द-लोभी अलिकिशोर माला का इधर-उधर दौड़ना वास्तव में कवि या रसज्ञ पाठक के ही तद्गुणपुत्र-विषयक लोभ का प्रतीक है, और यह लोभ कभी तृप्त न होनेवाला लोभ है।

मिथ्या ज्ञान काव्य में ग्राह्य हो जाता है—विदग्धता का परिचायक होने पर, जैसे प्रेयसी की खुशामद में। अवश्य ही विदग्धता उच्च और निम्न श्रेणी की हो सकती है। पंडितराज के पद्य में विदग्धता का समावेश तरुणी-गुण-विषयक सहृदय के लोभ को अप्रत्यक्ष (Indirect) रूप में प्रकट करने में हुआ है। (दे० ध्वनिवाद पर वक्तव्य)।

❀ ❀ ❀

यदि हम प्रथम श्रेणी के कलाकारों को अ$_1$, अ$_2$, अ$_3$, की उपश्रेणियों में रक्खें तो वाल्मीकि, व्यास, गृ, होमर, दान्ते, शेक्सपियर का स्थान अ$_1$ श्रेणी में होगा; कालिदास, तुलसी, गेटे, वर्जिल, टामसमैन आदि का अ$_2$ श्रेणी में; कीट्स, वर्ड्सवर्थ, रवीन्द्र, हार्डी आदि का अ$_3$ श्रेणी में। "यथार्थ की पकड़" का पैमाना इस वर्गीकरण के समझने में सहायक होगा।

अ$_1$ श्रेणी के कलाकारों में मानव-प्रकृति एवं मानव-जीवन का अपरिमित-अप्रतिहत ज्ञान पाया जाता है, साथ ही कल्पना-शक्ति में वे किसी से कम नहीं होते। अ$_2$ श्रेणी के कलाकार प्रायः मनोज्ञ किन्तु सघन कल्पना सृष्टि में निपुण होते हैं—यथार्थ से गृहीत चित्रों को नये ढंग से सँजोकर प्रभाव उत्पन्न करना उनका लक्ष्य रहता है। अ$_3$ श्रेणी के कलाकारों का प्रायः यथार्थ के कुछ अंगों से ही घना परिचय रहता है।

कल्पना द्वारा मनोज्ञ सृष्टि खड़ी करना, ऐसी सृष्टि जिसमें से कुरूपता को यथाशक्ति बहिष्कृत या गौण कर दिया गया हो, मनुष्य को प्रिय है। शायद यह पलायन की भावना मानव-स्वभाव का अनिवार्य तत्व है जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में होती है; अर्थात् यथार्थ की अपूर्णता और उससे उत्पन्न मानव असन्तोष की। संभव है वह ऐसी संभावना की वास्तविकता का प्रमाण हो जिसे चरितार्थ करके मनुष्य सचमुच असौंदर्य से ऊपर उठ सकेगा और पूर्ण बन जायगा।

हिन्दी आलोचना का धरातल

भारतवर्ष एक स्वतन्त्र देश है, इस परिस्थिति ने सब क्षेत्रों में हमारे उत्तरदायित्व को बढ़ा दिया है। भारत के निवासी इसका अनुभव करते हैं। वे जानते हैं कि यह देश एक पुराना देश है जिसकी सभ्यता और संस्कृति अनेक सहस्राब्दियों से विकसित और वर्धित होती आयी है। उनमें जो अधिक जागरूक हैं वे यह भी अनुभव करते हैं कि इस देश का अतीत जितना महान् था उतना वर्तमान नहीं है। अनेक कारणों से हम सभ्यता की दौड़ में पिछड़ गये हैं, और हमें अपने प्रयत्नों द्वारा स्वतन्त्र राष्ट्र को सब दिशाओं में आगे बढ़ाना है। किन्तु क्योंकि कमियों की चेतना उन्हें दूर करने की ओर पहला कदम है, इसलिये, प्रत्येक क्षेत्र में, हमें सतर्कता से देश की न्यूनताओं को समझने की चेष्टा करनी चाहिये।

सभ्यता का प्रधान अंग है विभिन्न मूल्यों की चेतना और वैयक्तिक-सामाजिक भूमिकाओं में उनके लाभ या उत्पादन की तत्परता; इस प्रकार की तत्परता ही मूल्यांकन के प्रयत्नों को जन्म देती है। किसी देश के पूर्णतया सभ्य होने के लिए यह आवश्यक है कि उसका सांस्कृतिक अतीत उदात्त हो, कम-से-कम अन्य देशों की तुलना में हीन न हो, और उसके ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में आलोचना एवं मूल्यांकन के उच्चतम मानों का पर्याप्त प्रयोग होता रहा हो। बात यह है कि व्यक्ति की भांति किसी देश के जीवन में भी समृद्ध सांस्कृतिक दृष्टि लम्बी साधना या विकास का फल होती है। यहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि किसी देश की संस्कृति या सभ्यता काफी हद तक सार्वजनिक होती है। इसका मतलब यह नहीं कि देश-विशेष के सब सदस्यों को समान रूप में अधीत एवं संस्कृत होना चाहिये, किन्तु इसका यह तात्पर्य जरूर है कि सांस्कृतिक मानों की चेतना इने-गिने लोगों तक सीमित न होकर उस देश के शिक्षित वर्ग की सामान्य सम्पत्ति हो और यह चेतना साम्प्रतिक एवं आनेवाले प्रयत्नों के धरातल तथा मूल्यांकन का सतर्क नियन्त्रण कर रही हो।

उपर्युक्त कसौटी का प्रयोग करने पर हम आधुनिक भारतवर्ष को पूर्णतया सभ्य नहीं कह सकेंगे। और इसका केवल यही अर्थ नहीं कि यह भौतिक समृद्धि में अन्य देशों से पिछड़ा हुआ है अथवा उसके निवासी पर्याप्त मात्रा

में वैज्ञानिक यन्त्रों एवं साधनों का उपयोग नहीं कर रहे हैं; एतत्कालीन भारत सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी संसार के समुन्नत राष्ट्रों से पीछे है। इन क्षेत्रों में हमारे देशवासी, अन्य देशों की अपेक्षा से, उच्चतम मानों की चेतना लिए हुए नहीं चलते रहे हैं जिसके फलस्वरूप उनके मूल्यांकन एकांगी एवं संतुलन-शून्य होते रहे हैं। कहना नहीं होगा कि इस परिस्थिति का एक प्रमुख कारण हमारी राजनैतिक एवं आर्थिक दुरवस्था रही है। यह नहीं कि इस बीच में हमने धर्म, दर्शन, विज्ञान, साहित्य आदि क्षेत्रों में बड़ी प्रतिभाओं को उत्पन्न नहीं किया, किन्तु उन प्रतिभाओं के प्रति हमारा भाव विस्मय मूलक स्तुति एवं अभिमान का अधिक रहा, सहज प्रसन्नता मूलक प्रशंसा का कम। हम गांधी और रवीन्द्र, जवाहर और राधाकृष्णन् के व्यक्तित्वों में गर्व का अनुभव करते रहे जिसका मुख्य कारण यह था कि उन्होंने दुनिया के सामने हमारे दीन-दलित देश का सिर ऊँचा किया, हमने यह देखने की कोशिश नहीं की कि कहाँ तक ये लोग देश अथवा मानवता के सांस्कृतिक विकास को आगे बढ़ा रहे हैं। साथ ही हमने उन व्यक्तियों की न्यूनाधिक उपेक्षा भी की जो साक्षात् भारत के आत्मसम्मान अथवा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की वृद्धि में सहायक नहीं हुए, भले ही वे देश को भीतर से पुष्ट करते रहे हों। अवश्य ही इस विपर्यय का कारण हमारे इतिहास का आपत्काल था, फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार की मूल्य-दृष्टि किसी सभ्य देश का स्वाभाविक रूप नहीं है। इंगलैंड जैसे देश में भी युद्ध-काल में चर्चिल जैसे व्यक्ति अनावश्यक रूप में बड़े लगने लगते हैं, किन्तु युद्धोत्तर चुनाव में चर्चिल की हार इस बात की द्योतक है कि वहाँ के लोगों की मूल्य-चेतना उतनी विकृत नहीं हो गयी थी। वैसे ही इंगलैंड में बड़े विचारकों और वैज्ञानिकों को उतने विस्मय और गर्व से नहीं देखा जाता जैसे कि हमारे देश में सर राधाकृष्णन, सर सी० वी० रमण तथा जगदीश चन्द्र वसु को देखा गया।

सब क्षेत्रों की भांति साहित्य मे भी हमारे मूल्यांकन के मान एकांगी अथच असंतुलित रहे हैं। अवशिष्ट लेख में हम इसी क्षेत्र की विशेष पर्यालोचना करेंगे।

मूल्यांकन एवं समीक्षा-दृष्टि की उक्त कमी को यदि हम सूत्र-रूप में प्रकट करना चाहें तो हम कह सकते हैं कि वह बौद्धिक प्रौढ़ता (Maturity) की कमी या अभाव है। यह प्रौढ़ता क्या है? टी० एस० इलियट ने एक जगह लिखा है कि 'यह माने बिना कि सुनने वाला प्रौढ़ता या परिपक्वता के अर्थ से पहले से ही परिचित है,' उक्त शब्द की परिभाषा

करना असम्भव है ...... यदि हम स्वतः पूर्ण विकसित अथवा प्रौढ़ हो चुके हैं, और साथ ही शिक्षित भी हैं, तो जिस प्रकार हम इतर मनुष्यों में प्रौढ़ता को पहचान लेते हैं, उसी प्रकार किसी सभ्यता अथवा साहित्य में पहचान सकेंगे। अन्यत्र उक्त शब्द को लक्षित करते हुए इलियट ने उसकी अन्यतम विशेषता अतीत की समीक्षित चेतना (Critical sense of the past) कथित की है। समीक्षित चेतना से तात्पर्य है तुलना-मूलक चेतना जो एकाधिक अतीत सभ्यताओं के परिचय से ही उत्पन्न हो सकती है और जिसमें मूल्यांकन का भाव संनिविष्ट रहता है। हमारा विचार है कि अब तक की हिन्दी आलोचना में उक्त चेतना की गहरी कमी रही है।

भारतेन्दु युग से अब तक के हिन्दी साहित्य में, और उससे भी अधिक हिन्दी आलोचना में, उक्त चेतना का प्रायः अभाव रहा है। यह नहीं कि इन दिनों हम अपने अतीत की ऐतिहासिक स्मृति खो बैठे थे, किन्तु यह स्मृति उस सजीव चेतना से भिन्न थी जो वर्तमान को अनुप्राणित करती हुई आगे बढ़ाती है। हमारा, अर्थात् हिन्दी भाषी प्रान्तों का, सांस्कृतिक पुनर्जागरण बौद्धिक दृष्टि से बहुत-कुछ अधूरा रहा। हमने किसी रामकृष्ण, विवेकानन्द अथवा अरविन्द घोष को उत्पन्न नहीं किया। यही नहीं, साहित्य के क्षेत्र में हमारे किसी लेखक को कालिदास, भवभूति और उपनिषदों की वैसी विकसित साक्षात् चेतना नहीं रही जैसी कि हम रवीन्द्रनाथ में पाते हैं। हिन्दी के अभिमानी—और यह उल्लेखनीय है कि यह अभिमान प्रायः अन्य प्रान्तीय भाषाओं की अपेक्षा में रहा, विश्व-साहित्य की नहीं—सूर-तुलसी की दुहाई अक्सर देते रहे, पर उनमें उतना साहस नहीं था कि अपने को वाल्मीकि और कालिदास का उत्तराधिकारी घोषित करें। जिन दयानन्द और गाँधी का हिन्दीभाषी प्रान्तों पर विशेष प्रभाव पड़ा वे भारतीय संस्कृति के सर्वाङ्गीण जागरण के प्रतीक न थे। हममें अतीत की चेतना विभिन्न बाहरी स्रोतों से आयी इसलिये वह अपेक्षाकृत खंडित एवं अनुर्वर रही।

यहाँ यह स्मरण दिला देना अप्रासंगिक न होगा कि हिन्दी साहित्य के प्रायः समग्र इतिहास में उस समृद्ध, सर्वाङ्गपूर्ण भारतीय संस्कृति की, जिसके बौद्ध और हिन्दू रूपों का चरम विकास क्रमशः मौर्यकाल और गुप्त युग में हुआ, चेतना का अभाव-सा है। इसीलिए जहाँ भक्तिकाल में हमारा लौकिक काव्य ईश्वर को केन्द्र में रखकर ही न्यूनाधिक विकसित हो सका वहाँ वह रीतिकाल में नैतिक धरातल से च्युत होकर नितान्त एकांगी बनकर रह गया। हमारे निर्गुणी कवियों में भी उपनिषद् काल की मनोरम ऋजुता, गहराई और जिज्ञासावृत्ति का अभाव है।

जब हमारे आलोचकों ने भारतेंदु को एक युग-प्रवर्तक साहित्यकार घोषित किया तो उन्होंने इस बात का प्रमाण तो दिया कि वे हिन्दी और हिन्दुस्तान के प्रेमी हैं, किन्तु इस बात का संकेत नहीं दिया कि वे एक ऐसे देश के निवासी हैं जहाँ हजारों वर्ष पहले भास और कालिदास के नाटक लिखे गये थे तथा "नाट्यशास्त्र" एवं "दशरूप" जैसे उच्चत लक्षण ग्रन्थ प्रस्तुत किये जा चुके थे।

छायावाद के प्रति भी हमारे आलोचकों का ऐसा ही असंतुलित प्रशंसा-भाव रहा। जिस देश में वाल्मीकि ने अपने विराट् महाकाव्य का प्रणयन किया और जहाँ मेघदूत, रघुवंश तथा किरातार्जुनीय और माघ में भी नितान्त मनोरम, मांजल और शक्तिपूर्ण साहित्यिक अभिव्यक्ति की प्रतिष्ठा हुई, वहाँ 'कामायनी' जैसी अशक्त एवं उलझी हुई सृष्टि का इतने उत्साह से स्वागत होना इस बात का द्योतक है कि हिन्दीभाषी जनता भारतीय साहित्य की महनीय परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न हो गयी थी। अधिकांश हिन्दी आलोचक सूर और तुलसी के भी समीक्षात्मक अध्ययन से वंचित थे और उन्हें यह अवगति न थी कि उक्त कवि विश्व-साहित्य की अपेक्षा में क्यों और कितने महान् हैं। फलतः इन कवियों का ज्ञान उनकी रुचि का उचित आलोचनात्मक परिष्कार न कर सका।

आश्चर्य की बात है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे उच्चकोटि के रसज्ञ आलोचक भी इस प्रकार की अप्रौढ़ता से न बच सके। उनके "इतिहास" में रीतिकालीन कवियों की लम्बी-चौड़ी सूची तथा 'गद्य-साहित्य का प्रसार' शीर्षक अध्याय में लेखकों और नामों की भरमार, भारतेन्दु के प्रति, कोरी कृतज्ञता से भिन्न, उनका विस्मय-मिश्रित भक्तिभाव इसके निदर्शन हैं कि मूल्यांकन की चेष्टा में व्यापक ऐतिहासिक दृष्टि का निर्वाह बहुत कठिन काम है। यह भी सत्य है कि पं० शुक्ल में भारत की रामयुगीन पौराणिक सभ्यता की जितनी चेतना थी उतनी हिन्दू स्वातन्त्र्य के महत्तर युग की नहीं, इसीलिए जहाँ उन्होंने कतिपय द्विवेदीयुगीन कवियों की कुछ अधिक प्रशंसा की वहाँ वे प्रसाद के नाटकों को उचित महत्त्व नहीं दे सके।

अतीत की समीक्षित चेतना—इलियट की इस धारणा में कुछ संशोधन या परिवर्तन करके हम कहेंगे कि मानसिक प्रौढ़ता का अर्थ इतिहास की अनेक महती सांस्कृतिक परम्पराओं की मननात्मक अथवा समीक्षित अवगति है। इस प्रकार की अवगति या चेतना आज के मनुष्य के लिए और भी आवश्यक है क्योंकि अब विभिन्न देशों या जातियों का भौगोलिक एकान्त नष्ट हो चुका है और उनके सांस्कृतिक मिलन की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो

गयी है। क्या इस दृष्टि से हमारे लेखकों का कृतित्व कुछ अधिक श्लाघ्य हो सका है?

हमें खेद है कि उक्त प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक नहीं हो सकता। अपने अतीत की जागरूक चेतना के अभाव में यह अनिवार्य था कि हम योरप के प्रति असंतुलित प्रतिक्रिया करते। योरपीय विचारों और विचारकों से प्रभावित होना अवश्यम्भावी था, अपेक्षित था, पर यह जरूरी न था कि हम उनसे चकित और अभिभूत भी होते। यह भी जरूरी न था कि हम उनका एकान्त विरोध करते, जैसा कि कट्टरपंथियों और आर्यसमाजियों ने किया। ये दोनों प्रतिक्रियायें हमारी बौद्धिक दुर्बलता की द्योतक थीं।

बाहरी प्रभावों के प्रति व्यक्ति और राष्ट्र अनेक तरह की प्रतिक्रिया करते हैं। नितान्त साधारण बुद्धि या व्यक्तित्व वाला पुरुष, और कभी-कभी राष्ट्र, प्रथम परिचित बड़े विचारक या महापुरुष के प्रति ही आत्मसमर्पण कर देता है; उससे अधिक विकसित व्यक्ति अनेक विचारकों या शिक्षकों का तुलना-मूलक परिशीलन करके अपनी धारणायें बनाता है; उच्चतम मस्तिष्क, व्यक्तियों के आकर्षक जाल से मुक्त होकर, विभिन्न इतिहासों की संचालक परम्पराओं की मननात्मक चेतना प्राप्त करता है। यह अन्तिम चेतना ही एक सभ्य राष्ट्र के आगे बढ़ने में सहायक हो सकती है।

हमारे देश में योरपीय सभ्यता के प्रति रवीन्द्र और राधाकृष्णन् की प्रतिक्रिया तीसरी कोटि की रही; हिन्दी ने इस कक्षा का कोई लेखक उत्पन्न नहीं किया। हमारे लेखकों की प्रतिक्रिया स्वदेशीय संस्कृति के प्रति प्रायः स्तुति मूलक रही; इस प्रतिक्रिया का सबसे उदात्त रूप हमें प्रसाद के नाटकों में मिलता है। किन्तु प्रसाद में इतनी क्षमता न थी कि वे योरपीय सभ्यता के महत्तर तत्वों की समुचित परीक्षा एवं स्वीकृति करके उनका भारतीय संस्कृति से सामंजस्य उपस्थित करते। वस्तुतः प्रसाद में भारत के श्लाघ्य अतीत की चेतना ही प्रबुद्ध है; वे एक मनस्वी देशभक्त थे और योरपीय संस्कृति से तटस्थ-से रहे। हमारे अन्य लेखक भारतीय संस्कृति में इतने नहीं घुस सके, और योरपीय संस्कृति के प्रति उनकी प्रतिक्रिया प्रायः पहली अथवा दूसरी कोटि की रही। उदाहरण के लिए पंत आदि छायावादी कवि अंशतः शेली, कीट्स आदि रोमांटिक कवियों से और फिर रवीन्द्र से विशेष प्रभावित हुए। भारतेंदु तथा प्रेमचन्द में भारतीय अथवा विदेशी किसी भी संस्कृति की तीव्र चेतना नहीं है; वे पूर्ण अर्थ में समसामयिक भारत के लेखक थे और भारतीय संस्कृति तथा योरपीय प्रभाव को उसी हद तक जानते थे जहाँ तक वे तत्कालीन भारतीय जीवन में जीवित या प्रतिफलित

सकता है जिसने विश्व के शतशः कलाकारों एवं विचारकों की सहायता से अपनी जीवन-दृष्टि को समृद्ध किया है। अधिकारी समीक्षक कभी संकीर्ण तो हो ही नहीं सकता—उसमें नैतिक और धार्मिक, वैयक्तिक और सामाजिक सब प्रकार की मानव-अनुभूतियों से सहानुभूति रखने की क्षमता होनी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि वह आलोच्य लेखकों की सीमाओं का निर्देश नहीं करेगा—इस प्रकार का निर्देश तो उसका राष्ट्र और मानव-संस्कृति के प्रति कर्तव्य है—पर वह एकांगी कलाकारों की भी शक्ति और सरसता की उपेक्षा नहीं कर सकेगा।

श्रेष्ठ समीक्षक में आत्म-विश्वास होता है, पर अहंकार उसका स्वभाव नहीं है। वस्तुतः अहंकार हमारी आंतरिक दुर्बलता का चिन्ह है; वह इस बात का द्योतक है कि अभी हमारी साधना अपर्याप्त है और हमारा प्रश्नों की जटिलता अथवा मानव-बुद्धि की सीमाओं से गहरा परिचय नहीं है। जहां मौलिक विचार-पद्धतियों के निर्मायकों में आत्म-विश्वास का अतिरेक शोभन लगता है,वहां थोड़ी सी संदेहवादिता, अहंकारी मनुष्य के प्रयत्नों के प्रति थोड़ा-सा हास्यभाव, अच्छे आलोचक का अभूषण है।

हमारी सांप्रतिक समीक्षा की गठन में ऊपर संकेतित अप्रौढ़ता के साथ अविनय अथवा अहंकार का काफी पुट देखा जा सकता है। अवश्य ही इसका कारण हमारी निराली परिस्थितियां हैं—सतर्क अलोचना-परम्परा का अभाव, प्रबुद्ध पाठकों की अल्पसंख्यकता, तथा प्रतिद्वन्द्वियों की विरलता— किंतु परिस्थितियां तो प्रत्येक कमी और भूल के पीछे होती हैं। यह जानते हुए भी कि हमारे देश में विश्लेषण-मूलक निर्णयात्मक आलोचना का आरम्भ योरपीय समीक्षा से प्रायः तीन-चार शताब्दी बाद हुआ है, कि हमारी भाषा आज भी बहुमुखी वैज्ञानिक चिन्तन का माध्यम नहीं है और हमारी जनता नूतन विचार-परम्पराओं से बहुत दूर तक अछूती है—यह जानते हुएभी मेरी यह धारणा है कि अपेक्षित प्रयत्न द्वारा हम इस दिशा में शीघ्र ही उन्नततम देशों के समकक्ष हो सकते हैं। बात यह है कि आलोचना न्यूनाधिक एक बौद्धिक व्यापार है, और इसकी प्रगति का वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है। साथ ही हमारे देश में न तो श्रेष्ठ साहित्य की ही कमी है, न उच्चकोटि की प्रतिभा की। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हमारे प्रतिभाशाली मस्तिष्कों में उपयुक्त बौद्धिक जिम्मेदारी की चेतना प्रबुद्ध हो, और वे समस्याओं की व्यापक जटिलताओं से उतनी ही गम्भीरता से उलझने के अभ्यस्त बनें जैसा कि उन्हें विश्व के उन्नततम राष्ट्रों में रहने पर करना पड़ता। संक्षेप में, श्रेष्ठ वैज्ञानिकों की भांति श्रेष्ठ साहित्य-समीक्षकों

और विवेचकों में भी यह भावना रहनी चाहिए कि वे अखिल विश्व के समानधर्मा लेखकों की जानकारी और अपेक्षा में सोच या लिख रहे हैं। इस चेतना की उपस्थिति में वे न तो सहज भाव से जहां-तहां एकांगी गौरव ही दे सकेंगे, और न विकृत अहंमन्यता अथवा दुर्विनीत अभिमान का ही प्रदर्शन कर सकेंगे। उस दशा में उन्हें यह साहस न होगा कि दर्जनों वर्षों से प्रचारित होते आये वादों या सिद्धांतो को मौलिकता के हास्यास्पद दावे के साथ देश की जनता के सामने पेश करें, अथवा मत-विशेष की पोषक अशक्त रचनाओं की निर्लज्ज-अरसज्ञता से प्रशंसा करते फिरें। साथ ही वे विरुद्ध मतवालों के प्रति उदार और सहिष्णु होना भी सीखेंगे क्यों कि एक सभ्य देश में किसी को बहुत काल तक अप्रासंगिक अथवा एकांगीवादों के आधार पर निंदास्तुति करते रहने की सुविधा नहीं मिल सकती।

साहित्य और संस्कृति[1]

संस्कृति शब्द की व्याख्या और उस व्याख्या के औचित्य की परीक्षा दोनों ही कठिन कार्य हैं। सदाचार की भाँति संस्कृति शब्द आदर्श-मूलक धारणा है; साथ ही यह वस्तु-स्थिति का बोधक भी है। वस्तु-स्थिति की बोधक या मापक होने के नाते संस्कृति अथवा संस्कृतियों का इतिहास है, और हम आदिम एवं आधुनिक संस्कृतियों की चर्चा करते हैं; आदर्श-मूलक धारणा होने के कारण हम विभिन्न संस्कृतियों की तुलना एवं मूल्यांकन का प्रयास करते हैं। विभिन्न युगों और जातियों के बदले यदि हम संस्कृति को अनेक व्यक्तियों से सम्बन्धित करके देखें तो दूसरी ही स्थिति सामने आती है; जिन्हें लोक में संस्कृत व्यक्ति समझा या माना जाता है वे एक-दूसरे से काफी भिन्न कोटि के होते हैं। उदाहरण के लिये हम रवीन्द्र, गांधी, बर्ट्रांड रसेल एवं आइन्स्टाइन इन चारों को ही संस्कृत पुरुष कहेंगे यद्यपि उनमें रुचि एवं शिक्षा-सम्बन्धी गहरी भिन्नताएँ हैं। स्पष्ट ही हमें संस्कृति की एक ऐसी परिभाषा या व्याख्या खोजनी चाहिए जो उसके विविध ऐतिहासिक, जातिगत एवं व्यक्तिगत रूपों को हृदयङ्गम करा सके।

संस्कृति मानव-व्यक्ति अथवा मानव समाज की विशेषता है; अपनी भावनाओं का आरोप किए बिना हम पशु-पक्षियों को संस्कृत नहीं कह सकते। अनेक महापुरुषों के नामोल्लेख के बाद आप इस कथन को हास्यास्पद समझेंगे, किन्तु वास्तविकता यह है कि मनुष्य के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें उसके तथा दूसरे प्राणियों के भेद को ध्यान में रखकर जानी जा सकती हैं। मनुष्य को पशुओं से भिन्न बनाने वाली एक प्रमुख विशेषता है, मानसिक एवं बौद्धिक अवगति या चेतना। पशु-पक्षियों में भी परिवेश का किंचित् ज्ञान होता है, किन्तु वह ज्ञान प्रायः इन्द्रियजन्य संवेदनों और सम्भवतः उनके अधूरे स्मृति-चित्रों तक सीमित रहता है। पशु-पक्षी तथा दूसरे जीव प्रायः नैसर्गिक प्रेरणाओं द्वारा संचालित होते हैं; अपने परिवेश तथा संवेदनों को वे सचेत भाव से ग्रहण नहीं कर पाते। सम्भवतः पशु-पक्षी भी चटकीले रूप-रंगों तथा सुगंधित हवा के झोंकों से प्रसन्न एवं परितृप्त होते हैं; वे भी अपने साथी और बच्चों के प्रति आकर्षण अनुभव करते हैं; किन्तु उनकी

[1] नव संस्कृति संघ, लखनऊ के उद्घाटन-समारोह में पठित (दिसम्बर, १९४९)

यह संवेदनाएँ स्पष्ट चेतना का अंग नहीं बना पातीं। इसके विपरीत मनुष्य अपने परिवेश और जीवन के अनुभवों को सचेत भाव से मस्तिष्क में बटोर कर रख लेता है। यहीं से उसकी संस्कृति का आरम्भ होता है।

हमने कहा कि मनुष्य अपने जीवन और परिवेश की अवगति का सचेत होकर उपभोग करता है। जीवन और जगत में उसे जब कोई ऐसी छवि या विशेषता दिखाई पड़ती है जो उसके सुख या दुख, हानि या लाभ अथवा कष्ट या आनन्द के लिए किसी प्रकार की सार्थकता रखती है तो वह उसे अपनी बुद्धि द्वारा विशिष्ट संस्थान से अलग कर लेता है, और फिर केवल मानसिक क्रिया द्वारा उस छवि या विशेषता की बार बार भावना करता है। 'वह सीढ़ी छोटी है और वह दीवार बहुत ऊँची, इसलिये उस सीढ़ी से उस दीवार की चोटी तक नहीं पहुंचा जा सकता' इस प्रकार की तर्कना जो व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक चिन्तन की नींव है इस बात पर निर्भर करती है कि हम वस्तुओं की ऊँचाई, लम्बाई आदि विशेषताओं का मानसिक पृथक्करण करके उनमें सम्बन्ध स्थापित कर सकें। हमारी सौंदर्य-चेतना भी, जो कला और साहित्य की जननी है, इसी प्रकार विकसित होती है। सम्भवतः मोर मोरनी से उसी प्रकार आकृष्ट होता है जिस प्रकार पुरुष नारी से, किन्तु, शायद, मोरनी का आकर्षण उसकी उपस्थिति की अवधि तक ही सीमित रहता है, और मोर को उस प्रकार का लम्बा स्मृति-कष्ट नहीं होता जैसा कि भावनाशील मनुष्य को होता है। बिहारीलाल कहते हैं,

नासा मोरि नचाय दृग करि कका की सौंह,
काँटे-सी कसकति हिये वहै कटीली भौंह।

यह ब्रज की किसी युवती का वर्णन है। 'नासिका को सिकोड़ कर और नेत्रों को नचाकर उसने अपने चाचा की शपथ की; उसकी यह कटीली भौंह (अभी तक) हृदय में काँटे की तरह गड़ रही है।' स्पष्ट ही यहाँ कवि के कष्ट या आनन्द का कारण उसकी भावनाशीलता—अनुभूत विशेषता को सचेत भाव से बार-बार मन के सामने लाने की क्षमता है।

अपनी भावना-शक्ति द्वारा अनुभूत जगत का मानसिक अनुवाद करके मनुष्य अपने अस्तित्व का प्रसार या विस्तार करता है। आप काश्मीर-यात्रा अथवा विदेश-भ्रमण करते हैं तो केवल तात्कालिक आनन्द के लिये नहीं बल्कि इसलिये कि आप विभिन्न दृश्यों या स्थलों के मनोरम स्मृति-चित्रों से अपनी चेतना को सदा के लिये समृद्ध बना लें। देश-काल की सीमाओं का अतिक्रम करके इस प्रकार आत्म-प्रसार की चेष्टा संस्कृत व्यक्तित्व की प्रधान विशेषता है।

किन्तु मनुष्य आत्म-प्रसार के लिये मात्र अपने व्यक्तिगत अनुभव पर निर्भर नहीं रहता। वास्तविकता यह है कि विश्व की अर्थवती छवियों का मानसिक पृथक्करण और अनुवाद जिस साधन अर्थात् भाषा द्वारा संभव होता है वह एक सामाजिक उपकरण है। भाषा अथवा अन्य सार्थक चिन्हों का प्रयोग अपने में एक सामाजिक व्यापार है; वह व्यक्तिगत चेतनाओं का समाजीकरण करता हुआ एक सामान्य मानव-चेतना को उत्पन्न करने का अस्त्र बन जाता है। अतः कहना चाहिए कि मनुष्य का मानसिक जीवन, उसकी चेतना का संसार, वह जीवन जिसके द्वारा वह अपने अस्तित्व का प्रसार करता है, मुख्यतः सामाजिक अथवा मानवता का जीवन है। इस विशाल जीवन-समुद्र में असंख्य व्यक्तिगत जीवनों के छोटे-बड़े सोते अहर्निश आकर मिलते एवं विलीन होते रहते हैं; और उसके उष्ण वाष्प-समूह से असंख्य मेघ-खंड सांस्कृतिक आकाश में उत्थित होकर नवोदित चेतना-केन्द्रों को पुष्पित और पल्लवित बनाते हैं।

मानवता की यह सामान्य चेतना विज्ञान और दर्शन को जन्म देती है, इतिहास और कला का सृजन करती है। इस सामान्य चेतना के आलोकावरण में तिरता हुआ मनुष्य, देश-काल की दृष्टि से एक छोटे देश, एक छोटे नगर या गाँव, एक नगण्य मकान के एक क्षुद्र कोने में पड़ा हुआ भी बुद्ध और ईसा के अनुपम त्याग, कृष्ण के नाटकीय उपदेश, सीजर और नेपोलियन के सैन्य-संचालन, फ्रांस और रूस की राज्य-क्रान्तियों की पर्यालोचना करता है; और पृथ्वी की संभावित आयु, सौर मण्डल के आकार और भार, तारों के तारतम्य, संख्या और कल्पनातीत दूरियों, जीव-योनियों के रहस्यमय परिवर्तनों और व्यापारों, विभिन्न किरणों के वेगों और विद्युदणुओं की गतियों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विमर्शों में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार की पर्यालोचना और विमर्श की क्षमता ही संस्कृति है।

संस्कृति के इस वर्णन में शायद कुछ लोगों को अतिव्याप्ति मालूम पड़े, कहा जायगा कि सब प्रकार का मानसिक जीवन सांस्कृतिक जीवन नहीं है। यह आपत्ति ठीक है। वस्तुतः सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन और जगत के वे ही तत्त्व महत्वपूर्ण हैं जो सामान्य रूप में सम्पूर्ण मानवता के लिये सार्थकता रखते हैं, वे तत्त्व या व्यापार जो केवल व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित रहते हैं, संस्कृति के अन्तर्गत नहीं आते। उदाहरण के लिये जब कोई भूखा व्यक्ति भोजन का सामान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है तो हम उसके प्रयत्न को सांस्कृतिक नहीं कहते; इसके विपरीत जब कोई पर-दुःख-कातर व्यक्ति अकाल-पीड़ितों के लिये अन्न जुटाने की कोशिश करता है तो

उसके क्रिया-कलाप सांस्कृतिक व्यापार बन जाते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति-विशेष की सौंदर्यानुभूति तब तक संस्कृति की परिचायक नहीं मानी जा सकती जब तक समाज के काफी सदस्य उसे उस रूप में ग्रहण या स्वीकार न करें। यही बात वैज्ञानिक सत्य एवं नैतिक निर्णयों पर लागू है। साधारण जीवन में लोग प्रायः स्वार्थ से प्रेरित होकर एक-दूसरे को भला-बुरा कहते हैं; इसी प्रकार तथ्य-निर्णय के क्षेत्र में भी बहुत-सा निरर्थक वाद-विवाद चलता रहता है। इस प्रकार के निर्णयों तथा विवादों का, जो निर्वैयक्तिक अथवा तटस्थ दृष्टि से अनुप्राणित नहीं रहते, कोई सांस्कृतिक महत्व नहीं है।

संस्कृति के सम्बन्ध में लिखनेवाले विद्वान् उसके अन्तर्गत प्रायः धार्मिक-नैतिक परम्पराओं, दर्शन तथा कला का संनिवेश करते हैं। किंतु यदि हमारा उपर का विश्लेषण ठीक है तो हमें उन सब क्षेत्रों को जिनमें मानव जाति सामान्य चेतना-मूलक जीवन को विकसित कर सकी है संस्कृति के अन्तर्गत लेना होगा। प्राचीन काल में भौतिकशास्त्र, प्राणि-शास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति आदि विशेष विकसित अवस्था में न थे; अतः उस समय एतत्सम्बन्धी चेतना से वंचित व्यक्तियों को संस्कृत कहा जा सकता था; किन्तु आज के युग में हम उस पुरुष को संस्कृत कहते हुए संकोच का अनुभव करेंगे जो उक्त शास्त्रों की महत्वपूर्ण धारणाओं से सर्वथा अपरिचित है। आज के समय में वह व्यक्ति जो प्रजातंत्र, तानाशाही एवं समाजवाद, विकासवाद तथा देश-काल-सम्बन्धी धारणाओं; फ्रायड के अवचेतन एवं एडलर की क्षतिपूर्ति आदि विचारणाओं से एकदम अनभिज्ञ हैं, संस्कृत कहलाने का उसी प्रकार अधिकारी नहीं है जिस प्रकार वह पुरुष या स्त्री जो महान् कलाकारों, दार्शनिकों एवं धर्म-शिक्षकों के सम्पर्क से अछूता रहा है।

मानवता के सामान्य चेतना-मूलक जीवन का आज इतना विपुल विस्तार हो गया है कि कोई भी व्यक्ति उसे समग्रता में आत्मसात् नहीं कर सकता। यह बात रवीन्द्र, गांधी, रसेल जैसे महान् प्रतिभा-मनीषियों पर भी लागू है, साधारण लोगों का तो कहना ही क्या। विशेषीकरण के इस युग में अरस्तू, गेटे जैसे सर्व-संस्कृत पुरुष दुर्लभ होते जा रहे हैं। ऐसी दशा में हम एक आदर्श रूप में संस्कृत व्यक्तित्व की केवल कल्पना ही कर सकते हैं।

संस्कृति तत्व का इतना परिचय देने के बाद अब हम उसके उस रूप को समझने का प्रयास करेंगे जो साहित्य से सम्बन्ध रखता अथवा साहित्य में प्रतिफलित होता है। साहित्य की उपस्थिति अथवा चर्चा के बिना अखिल

वाङ्मय नीरस है, समस्त जीवन नीरस है, और संस्कृति का विवेचन भी एक नितांत नीरस व्यापार है ।

साहित्य की सृष्टि और उपभोग भी मनुष्य के चेतना-मूलक जीवन का अंग है । साहित्य में हमें किस प्रकार के सत्यों की चेतना प्राप्त होती है ? उन सत्यों की जो हमारे राग-विरागों अथवा आनन्द और कष्ट की संवेदना से सम्बन्धित हैं । जीवन और जगत् की विभिन्नता में से साहित्यकार मात्र उन छवियों का चयन करता है जो मानव-प्रकृति में निसर्गतः सुख-दुख का स्फुरण करती हैं, अथवा उसमें ग्रहण और परित्याग की प्रतिक्रिया जगाती हैं, इसीलिए कहा गया है कि साहित्य का कार्य हमारा जीवन और जगत् से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना है । इससे भी अधिक समीचीन यह कहना होगा कि साहित्य इस प्रकार के सम्बन्ध को प्रकट या उद्घाटित करता है। जिस प्रकार वैज्ञानिक विशिष्ट सम्बन्धों या सत्यों को प्रकट मात्र कर देता है, उन्हें सृष्ट या आरोपित नहीं करता, उसी प्रकार साहित्य भी रागात्मक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति मात्र करता है, आरोप अथवा सृष्टि नहीं। ऐसा नहीं है कि पुरुष निसर्गतः नारी से, अथवा माताएँ शिशुओं से किम्वा मनुष्य मात्र प्रकृति से स्वभावतः आकृष्ट नहीं होते और कवियों के बुलावे में आकर वैसा अनुभव करने लगते हैं; साहित्य का आधार उतना ही यथार्थ, ठोस एवं वस्तु-मूलक है जितना कि विज्ञान का । यदि ऐसा न होता, यदि साहित्य मात्र छाया की छाया अथवा प्रतिकृति की प्रतिकृति होता, तो वह विभिन्न उपयोगी विज्ञानों एवं शास्त्रों के विरुद्ध संघर्ष में जीवित नहीं रह पाता । कल्पना के खिलौनों से बालकों को बहलाया जा सकता है, परिपक्व-बुद्धि वयस्कों को नहीं । इसके विपरीत साहित्य से प्रौढ़तम मस्तिष्क के मनुष्य रस और प्रेरणा लेते आये हैं ।

हमने साहित्य को मनुष्य के चेतना-मूलक जीवन का अंग कहा है । हम मानते हैं कि साहित्य की ऐतिहासिक प्रगति में क्रमशः मानव-जीवन की अर्थवती छवियों का स्पष्टतर प्रकाशन होता आया है । ज्यों-ज्यों मानव जीवन की जटिलता बढ़ती गई है त्यों-त्यों साहित्यिक अभिव्यक्ति भी अधिक जटिल एवं सूक्ष्म होती गई है । जीवन की बढ़ती हुई जटिलता को ठीक से प्रतिफलित करने के लिये ही साहित्य की शैली अथवा रूप में परिवर्तन होता है । हमारे युग में मुक्त काव्य एवं उपन्यास का विकास इसी प्रकार परिवर्तन का प्रतीक है । शेली और टी० एस० इलियट के काव्य में जैसा बृहत् अन्तर है वैसा ही उस समय के और आज के उपन्यासों तथा नाटकों में भी है ।

हमारी उक्त व्याख्या साहित्य की दो प्रचलित धारणाओं के विरुद्ध पड़ती

है। डा० रिचर्ड्स् का कहना है कि साहित्य में प्रयुक्त शब्द किसी वस्तुगत यथार्थ का संकेत नहीं करते, वे केवल आवेग जगाने का काम करते हैं। इसके विपरीत हम मानते हैं कि साहित्य में सार्थक वस्तुस्थिति के उल्लेख द्वारा ही आवेगों को जगाया जा सकता है। दूसरी धारणा के अनुसार साहित्य का विषय मानवी आवेग और वेदनाएँ हैं, आत्मनिष्ठ तत्व हैं, बाह्य तत्व नहीं। यह मत भी हमें ग्राह्य नहीं है। अवश्य ही गीतिकाव्य में कभी-कभी, कुछ लोग कहेंगे प्रायः, हमारे अन्तर्विकार अंकन का विषय होते हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य मात्र का विषय कवि के अन्तर्विकार हैं। यदि ऐसा हो तो हम युग-विशेष के काव्य में, कालिदास के 'रघुवंश' अथवा टी० एस० इलियट की 'वेस्टलैंड' में, उस युग की झाँकी हर्गिज न पा सकें।

यहाँ प्रश्न उठता है—यदि कवि का युग से अनिवार्य सम्बन्ध होता है तो हम विगत युगों के कवियों में क्यों अथवा कैसे रस लेपाते हैं ? क्या इस परिस्थिति से कि हम आज भी कालिदास को आनन्दपूर्वक पढ़ते हैं यह सिद्ध नहीं होता कि काव्य-साहित्य का विषय मानव-प्रकृति के शाश्वत तत्व हैं न कि परिवर्तनशील युग और सभ्यता ?

उत्तर में निवेदन है कि काव्य-साहित्य में मानव-जीवन और उसके परिवेश का प्रगतिमान उद्घाटन (प्रोग्रेसिव रिवेलेशन) होता है। इस प्रगति तथा उद्घाटन के दो पक्ष हैं। एक ओर हम भूत प्रकृति तथा मानव-प्रकृति के अपेक्षाकृत स्थायी तत्वों से क्रमशः अधिक परिचित होते जाते हैं तो दूसरी ओर मनुष्य के विकासमान अथवा परिवर्तनशील सामाजिक-नैतिक परिवेश की गत्यात्मक चेतना प्राप्त करते जाते हैं। मानव-प्रकृति के उद्घाटन की दृष्टि से और भूत-प्रकृति की सौन्दर्य-विवृति की दृष्टि से कालिदास का काव्य आज भी महत्व रखता है; इन दृष्टियों से आज का काव्य-साहित्य उस काव्य का पूरक-रूप है, निषेध-रूप नहीं। नैतिक दृष्टि से यह काव्य हमें उस समय के सामाजिक सम्बन्धों की कल्पना करने में मदद देता है, और इस तरह हमारी चेतना एवं निर्माण-बुद्धि को समृद्ध करता है। इस प्रकार प्राचीन और और नवीन साहित्य में कोई विरोध नहीं है, वे विकासशील कलात्मक चेतना के विभिन्न सोपान मात्र हैं।

तात्पर्य यह कि विभिन्न युगों के साहित्य में एक प्रकार की अविच्छिन्नता का सम्बन्ध रहता है। साहित्य में एक दूसरी कोटि की अविच्छिन्नता भी पाई जाती है; यह अविच्छिन्नता जीवन-प्रक्रिया के विभिन्न रूपों की अविच्छिन्नता है। साहित्य का विषय सम्पूर्ण जीवन है, जीवन का कोई एक विभाग या प्रकार नहीं। साहित्य के कलेवर में मानवता का समग्र जीवन—वह जीवन

जो सुख-दुख, राग-विराग, सरसता एवं विरसता-मूलक प्रतीतियों अथवा अनुभूतियों से निर्मित है—अपनी समस्त विविधता और क्रिया-प्रतिक्रिया में प्रतिफलित होता है। साहित्य का प्रतिपाद्य किसी एक व्यक्ति या वर्ग का जीवन नहीं है—जैसा कि महाकाव्य की प्राचीन परिभाषाओं से ध्वनित होता है; न उसका प्रतिपाद्य एक विशेष कोटि का जीवन ही है। जीवन का कितना विस्तार और कितनी गहराई साहित्य में अभिव्यक्त हो सकती है और कितनी तरह के पात्रों का आश्रय लेकर हो सकती है इसका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन आज के उपन्यास हैं।

स्थूल रूप में हम कह सकते हैं कि मानव-प्रकृति अथवा मानव-जीवन के चार मुख्य अंग या दिशाएँ (Dimensions) हैं जिनके पारस्परिक सम्बन्ध एवं क्रिया-प्रतिक्रिया से विशिष्ट जीवन-केन्द्र का निर्माण या प्रथन होता है। ये चार अंग हैं हमारी जीव-प्रकृति, हमारी मनोवैज्ञानिक प्रकृति, हमारे नैतिक-सामाजिक सम्बन्ध या व्यापार और हमारी दार्शनिक तथा पूर्णत्वान्वेषी (Religious) भावनाएँ। किसी भी श्रेष्ठ कलाकार अथवा समुन्नत जाति का साहित्य जीवन के इन चारों अंगों की विवृति करता है, और इस प्रकार जाति और व्यक्ति के समग्र जीवन को रसात्मक प्रेरणा प्रदान करता है।

मनुष्य की जैवी प्रकृति और मनोवैज्ञानिक प्रकृति में घनिष्ठ सम्बन्ध है; हमारे राग-विराग एवं आकर्षण-विकर्षण मूलतः जैवी प्रकृति से निर्धारित होते हैं। कलात्मक अनुभूति के ये अपेक्षाकृत स्थायी विषय या तत्व हैं। प्रत्येक युग और प्रत्येक जाति का साहित्य इन तत्वों का रसात्मक वर्णन या उद्घाटन करता आया है। मानव-प्रकृति के ये तत्व उसके अस्तित्व की गहराइयों का निर्माण करते हैं, उन गहराइयों का जिनके बारे में मनोविज्ञान और दर्शन बहुत कम छानबीन कर पाये हैं। क्यों हमें कतिपय जातियों के पशु-पक्षी या फूल सुन्दर लगते हैं, नीले आकाश अथवा समुद्र का विस्तार प्रिय लगता है, अमावस्या के तारे आकर्षक जान पड़ते हैं, कुछ चेहरे, कुछ आँखें, कुछ बोलने-मुस्कराने के ढंग मोहक प्रतीत होते हैं, इसका समुचित उत्तर, शायद, किसी शास्त्र या विज्ञान के पास नहीं है। केवल अपनी दृष्टि या संवेदना के बल पर कलाकार ऐसी छवियों को पकड़ना और अपनी वाणी में बाँध देता है। कला की दृष्टि से कोई भी ऐसा व्यक्ति पूर्ण मनुष्य अथवा पूर्णतया संस्कृत या सहृदय मानव नहीं है जो इन छवियों से आकृष्ट नहीं होता; उसमें सचेतन भाव से रमता नहीं। बात यह है कि कला या साहित्य जीवन की समग्रता का हामी है, वह उसके किसी भी अंग के निषेध को सहन नहीं कर सकता।

कला या साहित्य के विषयभूत तत्त्वों के में एक विचित्रता यह है कि हम उनसे कभी ऊब महसूस नहीं करते। गणित की जिस उपपत्ति को हम एक बार समझ चुके हैं उसका बार-बार दुहराया जाना हमें अर्थहीन जान पड़ता है; दो-चार आवृत्तियों के बाद भौतिक विज्ञान अथवा रसायनशास्त्र के प्रयोग हमें नीरस लगने लगते हैं; किन्तु साहित्य की विषय-वस्तु के साथ ऐसा नहीं होता। जान पड़ता है कि उस प्रत्येक छवि के जिस पर साहित्य की दृष्टि पड़ती है अनन्त पहलू हैं, उसमें अनन्त आकर्षण है जिसके उपभोग से हम कभी नहीं अघाते। बहुत पहले यक्ष ने संदेश-वाहक मेघ को सलाह दी थी कि तुम, कुछ टेढ़े रास्ते से चलकर भी, उज्जयिनी और दशपुर की युवतियों के उन नेत्रों का साक्षात्कार अवश्य कर लेना जो बिजली की चमक से चकित हो कर देखने लगेंगे, जिनके अपांग चंचल हैं, जो भ्रूलताओं के विभ्रमों से परिचित हैं, लम्बी बरौनियों के ऊपर उठने पर जिनकी नील-शबल कान्ति हो जाती है, और जो कुंद-कुसुमों के पीछे प्रधावित भौंरों की शोभा को चुराये हुए हैं। उज्जयिनी और दशपुर के बदले लखनऊ और दिल्ली को लक्ष्य करके आज भी 'मेघदूत' के मेघ को वैसी सलाह दी जा सकती थी! 'उत्तर राम चरित' में जब पूरे बारह वर्ष के बाद सीता को राम दिखाई देते हैं तो वे आत्म-विस्मृत होकर उन्हें एकटक निहारने लगती हैं। इसे लक्ष्य करके तमसा, सीता की सखी, कहती हैं,

> विलुलितमतिपूरैर्बाष्पमानन्दशोक-
> प्रभवमवसृजन्ती तृष्णयोत्तानदीर्घा
> स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते
> धवलबहुलमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः।

'दर्शन-जन्य आनन्द एवं परित्याग-मूलक शोक के आँसुओं से भरी हुई, अच्छी तरह देख सकने के लिए पूरे दैर्घ्य में खुली हुई, स्नेह का क्षरण करती हुई, तुम्हारी नितान्त धवल दृष्टि, दूध की निर्झरी के समान, मानो हृदयेश्वर को स्नान करा रही है!' सीता की यह दृष्टि आज भी हमें अर्थवती और पावन प्रतीत होती है।

कला की विषय-वस्तु की यह चिरन्तन आकर्षण-शीलता साहित्य मीमांसा के क्षेत्र में शाश्वतवाद को जन्म देती है, इस सिद्धान्त को कि कला और साहित्य का विषय अपरिवर्तनीय अथच शाश्वत है। इस बात में बहुत-कुछ सत्य है, किन्तु फिर भी वह एकांगी है। भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में, शायद, यह कहा जा सकता है कि उसका विषय अपरिवर्तनीय अथवा इतिहास से अप्रभावित है, किन्तु मानव-प्रकृति अथवा मानव जीवन वैसा

नहीं है। स्पष्ट ही हमारे सामाजिक-नैतिक जीवन में परिवर्तन होते हैं; हमारी जैवी और मनोवैज्ञानिक प्रकृति भी अपरिवर्तित नहीं रहती। हमारी माँगें घटती-बढ़ती हैं, हमारी आवश्यकताएँ बदलती हैं। प्राचीन कवियों को नारी की भीरुता प्रिय लगती थी, आज शायद हम उसे पसन्द नहीं करते, आज हम उस महिला को पसन्द करते हैं जिसमें स्वतंत्र व्यक्तित्व है, जो पद-पद पर पुरुष का आश्रय नहीं खोजती। इसी प्रकार चप्पल और जूते के सार्वकालिक एवं सार्वत्रिक प्रचार के इस युग में ग़ालिब की 'जहाँ तेरा नक्शे क़दम देखते हैं, ख़याबाँ ख़याबाँ इरम देखते हैं' अथवा विद्यापति की 'जहँ-जहँ पद-युग धरइ, तहँ-तहँ सरोरुह भरइँ' जैसी पंक्तियाँ कुछ कम अर्थवती रह गई हैं और दुष्यन्त की 'संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ' प्रार्थना कम सुरुचिपूर्ण जान पड़ती है। आज हम नुपूरों तथा किंकिणियों की ध्वनि सुनने के भी अनभ्यस्त हो गये हैं। अधिक ध्यान देने की बात यह है कि हमारी प्रकृति के एक अंश का परिवर्तन दूसरे अंशों को अप्रभावित नहीं छोड़ता।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि यदि संस्कृत होने का अर्थ आन्तरिक परिष्कार है तो वह मूल वासनाओं के विस्तृत व्यायाम द्वारा कैसे सम्पन्न हो सकता है? इसका उत्तर कई प्रकार से दिया जा सकता है। काव्य-साहित्य हमारी प्रवृत्तियों को व्यक्तिगत एवं विशिष्ट भौतिक परिस्थितियों से हटाकर सार्वभौम मानसिक भूमिकाओं में ले जाता है; इस प्रकार वह हमारी वासनाओं को शुद्ध करने का उपकरण बन जाता है। अरस्तू के "कैथार्सिस" (Catharsis) का कुछ ऐसा ही अभिप्राय है। दूसरे, प्रकृति एवं मानव के सौंदर्य में रमाता हुआ काव्य हममें सौंदर्य का स्थायी पक्षपात उत्पन्न कर देता है जिसके फलस्वरूप हममें जीवन को सुन्दर बनाने की आकांक्षा उदय होती है। तीसरे, पद-पद पर मनुष्य के सुख-दुख, मानापमान, प्रेम-घृणा आदि पर गौरव देकर साहित्य हमें मानव-व्यक्तित्व को, केवल मनुष्यता के नाते, आदर और महत्व देना सिखाता एवं हमारी सहानुभूतियों को व्यापक बनाता है।

साहित्य में हम रचयिता अथवा मानवता के जीवन का ज्यों का त्यों चित्र ही नहीं पाते, वहाँ अधिकांश चित्र कल्पना-घटित संभाव्य जीवन के होते हैं। यथार्थ के नियमों से नियंत्रित संभाव्य की कल्पना कर सकना कलात्मक प्रतिभा की अन्यतम विशेषता है। इस शक्ति के कारण ही कलाकार अपनी, और अपने साथ हमारी संवेदना या अनुभूति को अनन्त विस्तार दे देता है। 'सिरहाने मीर के आहिस्ता बोलो, अभी टुक रोते-रोते सो गया है,' इन पंक्तियों में जिस अनिर्वाच्य मधुर वेदना को बाँधा गया है वह मात्र एक

संभाव्य अनुभूति है जिसकी कल्पना संवेदनशील कवि जगा सका है। उर्दू प्रेम-काव्य में इस प्रकार की स्थितियों य अनुभूतियों की प्रचुरता है। गीत-काव्य के बाहर नाटक, महाकाव्य, उपन्यास आदि संभाव्य जीवन-चित्रों से ही निर्मित रहते हैं। अपनी इस विशेषता के कारण साहित्य हमें मानव-जीवन की शतशः परिस्थितियों एवं भावनाओं से परिचित करा कर हमारे जीवन को सम्पूर्ण मानवता का जीवन बना देता है। संभाव्य की कल्पना कर सकने के कारण भी हम आज प्राचीन साहित्य का रस ले सकते हैं।

हमने कहा कि साहित्य हमें मानव-व्यक्तित्व को सहानुभूति एवं महत्व देना सिखाता है। दार्शनिक, राजनैतिक तथा अन्य 'वर्ड़ी' दृष्टियों से बहुत-सी दूसरी चीजें महत्वपूर्ण हो सकती हैं, किन्तु साहित्य की दृष्टि से केवल एक ही वस्तु महत्वशाली है, मनुष्य का व्यक्तित्व, मनुष्य का सुख-दुख, मनुष्य का हर्ष-शोक, मनुष्य का मानापमान। साहित्य में हँसने का मूल्य होता है, रोने का मूल्य होता है, स्निग्ध दृष्टि का मूल्य होता है। जीवन में और राज-नीति में, सार्वजनिक सभाओं में और शासन-परिषदों में, धन का महत्व है, पद का महत्व है, शक्ति या अणु-बम का महत्व है; केवल साहित्य में ही इन चीजों का महत्व नहीं है। यहाँ एक ही चीज महत्वपूर्ण है, सहृदयता अथवा मनुष्यता। केवल साहित्य में ही शिशु को देखकर मुस्कुराती हुई माँ का महत्व है, और उस बच्चे के चीखकर रोने का भी जिसके माता-पिता, गरीबी के कारण, उसे खिलौना या मिठाई खरीद कर देने में असमर्थ हैं।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसकी जैवी-मनोवैज्ञानिक प्रकृति अपने को सामाजिक वातावरण में ही चरितार्थ करती है, अतः साहित्य और साहित्यकार मनुष्य की सामाजिक-नैतिक व्यवस्था में अभिरुचि लेता है। कुछ लोग समझते हैं कि कला और नैतिकता में विरोध है, कि कलाकार नीति के बन्धनों से मुक्त होता है, और उसकी सृष्टि स्वच्छन्द। इस प्रकार के विचारक यह भूल जाते हैं कि अन्ततः कला की प्रवृत्ति जीवन को सुन्दर और सरस बनाने के लिये है, और इस रस एवं सौंदर्य की आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करना ही नीति का लक्ष्य है। फिर भी यह ठीक है कि कभी-कभी कला और नीति की माँगों में विरोध उत्पन्न हो जाता है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं। एक कारण यह है कि नीतिवादी अक्सर जीवन की इस या उस माँग का निषेध करने लगते हैं, और, जैसा कि हम कह चुके हैं, कला और साहित्य जीवन-निषेध को स्वीकार नहीं कर सकते। दूसरे, नीतिवादी प्रायः प्राचीन रूढ़ियों के समर्थक होते हैं, उन रूढ़ियों के जो समसामयिक समाज में अर्थहीन हो चुकी हैं। कला और साहित्य ऐसी रूढ़ियों का प्रायः विरोध

करते हैं। बात यह है कि कलाकार स्वयं द्रष्टा होता है। अपने समसामयिक समाज या सभ्यता को वह स्वयं अपनी आँखों से देखता और उसके सुख-दुःख का अपना निदान एवं हल प्रस्तुत करता है। फलतः वह रूढ़िवादी नीतियों के विरोधी के रूप में दिखाई पड़ने लगता है।

'कला कला के लिये' का नारा या तो वे लोग उठाते हैं जो, मौजूदा स्थिति के समर्थक होने के कारण, नहीं चाहते कि कोई स्वतंत्रचेता पुरुष समसामयिक समाज-संगठन के नैतिक आधारों की छानबीन करे, या वे लेखक और कलाकार जिनका मस्तिष्क और संवेदना अभी पूर्णतया विकसित नहीं हुई है और जो, बौद्धिक विकास की दृष्टि से, अभी वयःसंधि की भूमिका में हैं। वयःसंधि काल में प्रेम और सौंदर्य की चेतना होती है, सुख-दुःख की चेतना होती है, पर नैतिक-सामाजिक उलझनों एवं मूल्यों की चेतना नहीं होती। यह चेतना मस्तिष्क के प्रौढ़ हो जाने पर ही उदित होती है। और क्योंकि हमारी विभिन्न संवेदनाएँ मस्तिष्क के अलग-अलग कमरों में बन्द नहीं हैं, यह चेतना कलाकार की सौंदर्य-दृष्टि एवं सुख-दुःख-संवेदना को भी अप्रभावित नहीं छोड़ती। प्रौढ़ कलाकार जीवन को उसकी समग्रता में देखता और जीवन के प्रत्येक पहलू को अन्य पहलुओं की सापेक्षता में चित्रित या उद्घाटित करता है। इसीलिये संसार के श्रेष्ठतम साहित्यकार नाटकों अथवा महाकाव्यों के प्रणेता हुए हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति और भारवि स्वदेश में तथा होमर, सोफोक्लीज, यूरिपिडीज़, दान्ते, गेटे, शेक्सपियर आदि योरप में ऐसे ही कलाकार हैं। आधुनिक काल के उपन्यास भी उसी कोटि का साहित्य हैं।

उन्नीसवीं सदी के रोमांटिक कवियों से प्रभावित रवि बाबू ने इस मत का प्रचार किया कि अब महाकाव्य लिखने का युग गया। मतलब यह था कि काव्य के क्षेत्र में यह युग *गीत-काव्य* का है। *गीतकाव्य* से भी उनका तात्पर्य आत्मनिष्ठ काव्य से था जिसका विषय प्रेम और सौंदर्य के विशिष्ट वैयक्तिक रूप होते हैं। स्पष्ट ही हमारा मन्तव्य इसका विरोधी है। हमारा विश्वास है कि आज के विक्षुब्ध युग में जब कि मानव-मस्तिष्क और मानव-समाज शतशः प्रश्नों एवं समस्याओं से आन्दोलित है अपेक्षाकृत कम विकसित मस्तिष्क का कलाकार ही मात्र आत्मनिष्ठ गीतकाव्य लिखकर संतुष्ट हो सकता है; और एक कम विकसित जाति ही ऐसे काव्य से आत्मविनोद करती रह सकती है। ऊपर हमने उपन्यास का उल्लेख किया; हमारे अपने युग में टामस हार्डी ने अपना बृहत् नाटक "द डाइनेस्ट्स" लिखा है, और इलियट की "वेस्टलैंड" तथा नाटिकाएँ भी आत्मनिष्ठ कोटि की रचनाएँ

नहीं है। इब्सन तथा शा के नाटक तो नैतिक-सामाजिक रचनाएँ हैं ही।

कलात्मक संवेदना का मुख्य कार्य मानवता के सुख और दुख, कष्ट और आनन्द के स्रोतों का निर्देश करना है। कोई भी विचारशील लेखक जिसकी आँखें देखतीं और बुद्धि कार्य कारण के सम्बन्ध जोड़ती है सामाजिक सुख-दुख, न्याय-अन्याय के प्रति उदासीन नहीं हो सकता। वास्तव में संवेदनशील कलाकार ही विशिष्ट नैतिक-सामाजिक अथवा आर्थिक राजनैतिक व्यवस्थाओं की उन कमियों या खराबियों का सफल उद्‌घाटन कर सकता है जो जीवन के नैसर्गिक प्रवाह को अवरुद्ध करतीं और उसके मर्मस्थलों को पीड़ा पहुंचाती हैं। जिस जाति के कलाकार इस प्रकार की कमियों और खराबियों के प्रति उदासीन रहते हैं वह जाति शीघ्र ही पतन की ओर बढ़ने लगती है। चरित्र-भ्रष्ट शासकों अथवा समृद्ध रईसों के जीवन से तादात्म्य स्थापित करके जिस जाति के कलाकार अपने नैतिक शिक्षण के कार्य से विमुख हो जाते हैं उसका ह्रास अवश्यंभावी है। कालिदास ने रघुवंशियों का मार्मिक विरुद-गान करके तथा भारवि ने द्रौपदी, युधिष्ठिर एवं व्यास के प्रभावपूर्ण संवादों और वक्तव्यों द्वारा उन नैतिक तत्वों का संकेत करने की कोशिश की है जो उस समय के समाज की उन्नत स्थिति के लिये अपेक्षित थे। इसके विपरीत रीतिकालीन हिन्दी कवि तथा उर्दू के ग़ज़ल-रवाँ शायर जन-जीवन के सुख-दुख से तटस्थ रहे जिसके फलस्वरूप हिन्दू जाति तथा मुगल-साम्राज्य का पतन हुआ। हम कह सकते हैं कि पूर्ण संस्कृति की दृष्टि से उर्दू काव्य संस्कृत काव्य तथा उस फ़ारसी काव्य से जिसमें फ़िरदौसी और शेख़-सादी ने काव्य लिखा हीनतर है, और हिन्दी का रीति-कालीन तथा छाया-वादी काव्य भी वैसा ही है। सच पूछो तो हिन्दी का समूचा प्राचीन साहित्य नैतिक-सामाजिक जीवन से तटस्थ अतएव अपूर्ण है। अपनी इस मान्यता पर मैं विशेष गौरव देना चाहता हूँ क्योंकि अभी हाल तक बंगाल का तथा हिन्दी का गीतकाव्य न्यूनाधिक मध्ययुगीन रहस्यवाद तथा वैष्णव काव्य से प्रभावित होता रहा है और आज भी हमारे सम्मानित, वयोवृद्ध आलोचकों पर कबीर और रवीन्द्रनाथ का आतंक है। अवश्य ही कबीर आदि संत कवियों ने धर्म के क्षेत्र में सारग्राहिता (Essentialism) पर जोर देकर हिन्दू-मुसलमानों का वैमनस्य दूर करने की चेष्टा की, लेकिन इस चेष्टा का प्रेरणा-केन्द्र परलोक था, यह लोक नहीं; ईश्वर था, मनुष्य नहीं। इसी प्रकार सूर और तुलसी के काव्य में जीवन के समस्त कष्टों की औषधि भगवान् की शरणागति है। इन भक्त कवियों की दृष्टि में जीवन की सब खराबियों का एक ही निदान है, व्यक्ति की वासनाएँ और लौकिक कामनाएँ; और

उनका एक ही हल या उपचार है, इस लोक को भूलकर परलोक और ईश्वर की चिन्ता। कहना चाहिए कि हिन्दुओं की दुरवस्था के ये निदान और हल बहुत हद तक अयथार्थ और असाहित्यिक थे। वे 'मेघदूत' तथा 'इन्दुमती स्वयंवर' के गायक एवं द्रौपदी जैसे पात्रों के स्रष्टा कवियों की स्पिरिट के सर्वथा प्रतिकूल थे; वे भारत की स्वर्णयुगीन सभ्यता के विरोधी थे; वे मूलतः पलायन प्रवृत्ति पर आश्रित थे। मध्ययुगीन कवियों में उस नैतिक चेतना की विशेष कमी है जो मनुष्य को अपने प्रयत्नों द्वारा जीवन को पूर्ण बनाने की प्रेरणा देती है। यह नहीं कि संस्कृत कवियों में धार्मिक चेतना नहीं है, पर यह चेतना नैतिक चेतना को दबा नहीं बैठी है; संस्कृत काव्य का मनुष्य आत्म-निर्भर है, ईश्वरापेक्षी नहीं; वह जीवन-सम्भोग का विश्वासी है, जीवन-निषेध का नहीं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि संस्कृत काव्य की तुलना में हिन्दी काव्य एकांगी और हीनतर है।

वास्तविकता यह है कि नैतिक-सामाजिक चेतना अपेक्षाकृत अधिक विकसित जाति अथवा व्यक्ति के मस्तिष्क का धर्म है। धार्मिक चेतना परम्परा से भी प्राप्त हो सकती है, पर अपेक्षित नैतिक चेतना बिना बौद्धिक जागरूकता के संभव नहीं होता। यह देखने की बात है कि गणित, विज्ञान, दर्शन आदि प्रायःप्रत्येक क्षेत्र में हिन्दू जाति के श्रेष्ठ मौलिक विचारक मध्ययुग से काफ़ी पहले हो चुके थे। वास्तव में मध्ययुग हमारे देश के सर्वांगीण ह्रास का युग है, अतः हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि इस युग में उपयुक्त लोक-परक नैतिक चेतना का अभाव है।

नैतिक चेतना से हमारा तात्पर्य किसी विशेष वाद या सिद्धान्त की स्वीकृति से नहीं है, और साहित्य में इस चेतना का प्रकाशन उपदेश-वृत्ति (*Didacticism*) का पर्याय नहीं है। इस प्रकार का उपदेश-परक साहित्य तो हिन्दी में प्रचुर मात्रा में मिलता है; वृन्द कवि के दोहे, रहीम के दोहे आदि तथा भारतेन्दु युग एवं द्विवेदी युग का बहुत-सा साहित्य। नये-पुराने उपदेशों को दुहराने-रूप इस तरह का साहित्य लिखने के लिये किसी विशेष प्रकार की साधना या तपस्या की जरूरत नहीं है। किन्तु जो नैतिक-सामाजिक चेतना एक सभ्य जाति के क्रान्तदर्शी कलाकार में होनी चाहिए वह इससे भिन्न है। संक्रान्ति-युग के कलाकार का दायित्व तो और भी अधिक है। जिस गहरे अर्थ में हम उक्त चेतना की माँग कलाकार से कर रहे हैं उसके तीन मुख्य पहलू या अवयव हैं अर्थात् ऐतिहासिक चेतना, वैज्ञानिक या तथ्य-मूलक चेतना और दार्शनिक चेतना। ऐतिहासिक चेतना से हमारा तात्पर्य इस अवगति से है कि विगत युगों से विरासत के रूप में प्राप्त कौन-सी

परम्परायें, दृष्टियाँ एवं भावना-पद्धतियाँ आज के जीवन के लिए अनुपयुक्त हो गई हैं और उनका कहाँ तक संशोधन या परित्याग अपेक्षित है। संक्षेप में, यह चेतना जीवन-मूल्यों की उस क्रान्ति की चेतना है जो बदली हुई परिस्थितियों द्वारा उपस्थित की गई है। साथ ही वह नवीन दृष्टियों एवं भावना-पद्धतियों की प्रसव-वेदना, एवं उनके आपेक्षिक महत्व की चेतना भी है। उदाहरण के लिये टी० एस० इलियट ने अपनी कविता 'द लव सौंग ऑफ अल्फ्रेड प्रूफ्रॉक' में हमारा ध्यान उस बृहत् अन्तर की ओर आकृष्ट किया है जो उन्नीसवीं सदी और आज की प्रेम-भावना में उत्पन्न हो गया है। इस प्रकार के सांस्कृतिक द्वन्द्व की चेतना ऐतिहासिक चेतना है। वैज्ञानिक अथवा तथ्य-मूलक चेतना से अभिप्राय उन नवीन शक्तियों की अवगति से है जो नये जीवन का स्वरूप निर्धारित कर रही हैं। सांस्कृतिक संकट के साथ कलाकार को जीवन की उन नई संभावनाओं की चेतना भी होनी चाहिए जो नये परिवेश में अन्तर्निहित हैं; इन संभावनाओं के प्रत्यक्षीकरण द्वारा कलाकार नई शक्तियों के समुचित उपयोग की दिशाओं का निर्देश करता है। दार्शनिक चेतना से तात्पर्य उस मनोवृत्ति से है जिसके द्वारा हम मानवता के बढ़ते हुए ज्ञान-विज्ञान के आलोक में मानव-जीवन का अर्थ और लक्ष्य स्थिर करने की चेष्टा करते हैं।

मुझे भय है कि उक्त दृष्टियों से परीक्षा करने पर हम रवीन्द्र की कलात्मक संवेदना में जागरूक नैतिक चेतना को नहीं पा सकेंगे। हिन्दी के छायावादी-कवियों में भी इस चेतना का अभाव है। रवीन्द्र का काव्य कुछ अधिक धार्मिक है, अधिक मध्ययुगीन; उनका मानववाद प्रायः दार्शनिक-आध्यात्मिक है, नैतिक और ऐहलौकिक नहीं। यह आश्चर्य की बात है भगवान बुद्ध के नैतिक मानववाद ने जहाँ इर्विंग बैबिट जैसे विदेशी विचारकों को प्रभावित किया वहाँ रवीन्द्र जैसे प्रतिभाशाली कवि पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाला। इन लेखकों से दूसरे पर छोर पर हैं प्रगतिवादी जो केवल मार्क्सवाद की जानकारी को साहित्य-सृष्टि के लिये पर्याप्त साधना या तैयारी समझते हैं। प्रतिभाशाली कलाकार वाद-विशेष का अनुशीलन उसे स्वीकार या अस्वीकार करने के लिये नहीं करता, उसके लिये सिद्धान्त विशेष दृष्टि-प्रसार का साधन मात्र होता है। वाद-विशेष जीवन के कुछ चुने हुए पहलुओं को ही देख या दिखला सकता है, इसके विपरीत श्रेष्ठ कलाकार जीवन को समग्रता में देखना चाहता है। अनिवार्य रूप से जीवन की अनगिनत छवियों का वह स्वयं अपना समन्वय प्रस्तुत करता है। अतः स्पष्ट है कि कोई भी प्रतिभाशाली लेखक वाद-विशेष से आबद्ध नहीं हो सकता। वस्तुतः श्रेष्ठ कलाकार, अपने क्षेत्र में,

विश्व के महत्तम विचारकों का समकक्ष होता है, उनका अनुयायी नहीं। क्या हम आशा करें कि स्वतंत्र भारत के स्वतंत्रचेता कलाकार उस समृद्ध जीवन-दृष्टि को विकसित करने का प्रयत्न करेंगे जो निकट भविष्य में ही देश के जीवन को एक पूर्णतर एवं दृढ़तर सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठित कर सके ?

(१९४९)

प्रयोगशील साहित्य

प्रत्येक युग अपने अस्तित्व की सार्थक स्वतन्त्रता की घोषणा करना चाहता है। इस घोषणा का एक पक्ष है, अपने को विगत युगों से भिन्न प्रमाणित करना। कला और चिंतन के क्षेत्र में नई शैलियों के उदय का यह व्यक्तिगत कारण है। पिछले लेखकों तथा विचारकों से काफी भिन्न प्रतीत हुए बिना नवीन प्रतिभा अपने को प्रतिष्ठित करना कठिन पाती है। हमारे व्यक्तिवादी युग में यह प्रवृत्ति और भी उग्र हो गई है। यह प्रवृत्ति शायद योरप में कुछ अधिक फैली हुई है, पर हमारे देश में भी उतनी विरल नहीं है।

यों भी विभिन्न युगों के साहित्य एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, "यों भी" से तात्पर्य है, लेखकों के सचेत प्रयत्न के अभाव में भी। साहित्य के शाश्वत-वादी विचारक इस भिन्नता का कोई कारण नहीं बता सकते। यदि साहित्य उन्हीं निश्चित-संख्यक ध्रुव स्थायीभावों की अभिव्यक्ति है तो वह देश और काल के साथ बदलता क्यों है? क्यों वाल्मीकि की "रामायण", "महा-भारत" से और तुलसी के "मानस" से भी, भिन्न है और कालिदास का शृंगार-काव्य रीतिकालीन कविता से इतना विसदृश है? क्यों प्राचीन यूनान और प्राचीन भारत के साहित्यों में अन्तर है? स्पष्ट ही साहित्य में अन्तर्वि-कारों के अतिरिक्त कोई दूसरी चीज़ होती है जो देश और युग के अनुरूप बदल जाती है।

विभिन्न देशों और युगों को जुदा करनेवाली एक प्रधान चीज है, परिवेश या वातावरण की भिन्नता। यह परिवेश केवल भौतिक दृष्टि से ही भिन्न नहीं हो जाता—यद्यपि उतनी भिन्नता भी कम महत्व नहीं रखती, वह बौद्धिक, मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक दृष्टियों से भी बदलता रहता है। आज के युग के विचारशील व्यक्ति का परिवेश वही नहीं है जो बुद्ध अथवा कालिदास के समय के शिक्षित नागरिक का था। आज हमारे यातायात और युद्ध के उपकरण भिन्न हैं, संयोग-वियोग के अवसर और साधन भिन्न हैं, और वह विश्व भी भिन्न है जो मनुष्य की दार्शनिक-नैतिक पद्धतियों का स्वरूप स्थिर करता है। साहित्य की दृष्टि से अधिक महत्व की बात यह है कि आज हमारे सुख-दुःख, मानापमान के स्रोत भी बहुत-कुछ बदल गये हैं। साहित्य स्वभा-

अतः इन स्रोतों से अर्थात् उनकी विवृति से सम्बद्ध है और वह हमारे दार्शनिक-नैतिक विश्वासों से भी संबद्ध है।

वास्तव में साहित्य के बारे में यह कहना कि वह हमारे आवेगों अथवा अन्तर्विकारों की अभिव्यक्ति है, बहुत स्थूल और कम महत्व की बात है; जीवन में और साहित्य में मुख्य चीज वे तत्व हैं जिनके सम्बन्ध में हम आवेगों और वेदनाओं का अनुभव करते हैं। क्रोध अपने में एक दोष है, क्रोध की प्रवृत्तियां स्वभाव एक हेय प्रवृत्ति है, पर रावण के प्रति राम का क्रोध, जीवन और साहित्य दोनों में, श्लाघ्य वस्तु समझी जाती है। साहित्य का प्रमुख कार्य जीवन की सम्बद्धता में अन्तर्विकारों का नियमन और शिक्षण है; उसका दूसरा मुख्य कार्य जीवन की अर्थवती छवियों में चेतना या बोधवृत्ति का प्रसार है। साहित्य की दृष्टि से अर्थवती छवियाँ वे हैं जो मनुष्य के सुख-दुःख, मानापमान एवं ऊर्ध्व या अधोमुख प्रगति से संबद्ध हैं। स्पष्ट ही बदलते हुए युग के साथ मनुष्य की बोधवृत्ति का, और इसलिए साहित्य का, रूपान्तर अनिवार्य हो जाता है।

सारांश यह कि साहित्यिक अनुभूति रागबोधात्मक होती है। उस अनुभूति में रागतत्व तथा बोधतत्व विविक्त ही किये जा सकते हैं, अलग नहीं। इन विविक्त तत्वों में से एक का परिवर्तन समस्त अनुभूति को नया रूप दे देता है। फलतः दो युगों या देशों के काव्य केवल अपने बोधांश में ही भिन्न नहीं होते, उनका रागतत्व भी, विभिन्न बोधतत्वों की उपाधियों से संयुक्त होने के कारण, भिन्न रूप हो जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न काव्यों में सांगीतिक भिन्नता भी रहती ही है।

प्रत्येक देश और युग की चेतना का अपना आत्मबोध एवं जगद्बोध, अपनी रागात्मक मनोवृत्ति या प्रतिक्रिया, और अपना संगीत होता है जिसके कारण उसका काव्य, दर्शन तथा अन्य सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ अन्य देशों और युगों से निराली होकर उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। प्रतिनिधि कलाकारों की कृतियों में इस प्रकार के व्यक्तित्व का मथन और प्रकाशन होता है।

कुछ लोगों का विचार है कि स्थायी भावों और रसों को काव्य-साहित्य का स्थायी तत्व घोषित करके हम भारतीय परम्परा का रक्षण या पोषण करते हैं, पर ऐसी बात नहीं है। वेदान्त के अनुसार समस्त अनुभवों में केवल अवगति अथवा चेतना (साक्षिचैतन्य) का तत्व ही स्थिर है, शेष सब भाव या वृत्तियाँ अन्तःकरण अथवा चित्त का धर्म हैं जो कि परिवर्तनशील हैं। वस्तुतः असली देशभक्ति या भारतीयता इसमें है कि हम अपनी सांस्कृतिक

साधना को जीवन और परिवेश की जटिलता के अनुपात में सजग और समृद्ध बनाते चलें; स्वयं कुछ न करते हुए प्राचीनों का ढिंढोरा पीटना आलसियों की देशभक्ति है।

अब हम प्रयोगशीलता के विशिष्ट रूप को समझने की चेष्टा करेंगे।

हमने कहा कि प्रत्येक युग की अपनी संवेदना और अपना संगीत होता है, प्रत्येक युग का अपना सुख-दुख, आशा-निराशा का "मूड" भी होता है। ये सब चीजें मिलकर युग-विशेष में प्रयुक्त किये जानेवाले शब्दों के कोशगत अर्थ से भिन्न अनुषंगों और उन (शब्दों) की सांगीतिक झनकार को निर्धारित करती हैं। उदाहरण के लिए "लोचन या लोयन", "नयन या नैना", "तिरछी या तिरीछे" आदि शब्द केवल अपने वाच्य अर्थों को ही व्यक्त नहीं करते; अपने लम्बे प्रयोग-रूप इतिहास के कारण वे विशिष्ट रागात्मक ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं जो उन शब्दों की प्रभविष्णुता को बढ़ा देती हैं। इस प्रकार एक ओर तो युग-विशेष का शब्द-प्रयोग आगे आनेवाले युगों के लिए विशिष्ट रागबोधात्मक (सांस्कृतिक) विरासत छोड़ देता है जिसके फलस्वरूप उन युगों को कोरी पटिया पर लिखना नहीं शुरू करना पड़ता; दूसरी ओर, संवेदना और अभिव्यक्ति के प्रकारों को विशिष्ट प्रणालियों में बाँध देने के कारण, वह नये युगों की नवीन चेतना के प्रकाशन में बाधा बनकर भी खड़ा हो जाता है। उदाहरण के लिए एक ब्रज काव्य का पाठक "लोचन" या "नैन" शब्द को देख-पढ़ कर अपने मन में विशेष प्रकार की अनुभूति के स्फुरण का अभ्यस्त बन जाता है; किसी नये कवि के लिए इन्हीं शब्दों के प्रयोग द्वारा उस पाठक में भिन्न प्रकार की अनुभूति जगाना दुष्कर काम होगा।

इस तथ्य को हम दूसरी तरह प्रकट करें। ब्रजकाव्य में जिस नायिका के व्यक्तित्व की विवृति हुई है उसकी एक विशिष्ट प्रकृति (कैरेक्टर) है; उर्दू काव्य के माशूक़ की दूसरी ही प्रकृति है; और आधुनिक भारतीय नारी की, विशेषतः शिक्षित नारी की, तीसरी प्रकृति या स्वभावगत विशिष्टता है; अतः उसके व्यक्तित्व की विवृति ब्रजभाषा तथा उर्दू से भिन्न कोटि के काव्य में होगी। इसी प्रकार आज का प्रेमी भी उक्त काव्यों के प्रेमियों से बहुत-कुछ भिन्न हो गया है।

हम यह नहीं कह रहे हैं कि यह भिन्नता या भेद आत्यंतिक है, यदि ऐसा हो तो हम ब्रजकाव्य की नायिका का काल्पनिक प्रत्यक्ष भी न कर सकें। किन्तु यह स्पष्ट है कि जो काव्य इस भिन्नता को व्यक्त करने का प्रयत्न करेगा वह ब्रजकाव्य की अपेक्षा से अवश्य ही भिन्न हो जायगा। एक और बात

है। कहा जा सकता है कि ब्रज काव्य में वर्णित गुजरी आज भी ब्रज के और दूसरे गाँवों में भी मौजूद है और "जनता के काव्य" में उसी का वर्णन होना चाहिये। उत्तर में हम कह सकते हैं—ऐसे काव्य के प्रेमी ब्रज काव्य ही पढ़ें, हमारा काव्य न पढ़ें। वास्तविकता यह है कि ब्रज की अथवा गाँव की गुजरी हमारी विशिष्ट सभ्यता की नारी नहीं है, शिक्षा के प्रसार के साथ (और जनतंत्र अथवा समाजवाद की सफलता के लिये शिक्षा-प्रसार नितान्त जरूरी है) उसका वर्ग क्रमशः लोप होता जायगा, इसलिये आज का साहित्यकार उसकी उपेक्षा करने को बाध्य है। इसके विपरीत मजदूरी करने वाली स्त्री आज की विशिष्ट सन्तति है, और आप मानेंगे कि उसके वर्णन में "नैन" शब्द का उसी अर्थ में प्रयोग संभव नहीं है जिस अर्थ में उसका प्रसिद्ध पंक्ति, 'नैन नचाय कह्यो मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी' में प्रयोग किया गया है।

हिन्दी में नेत्रवाची कई शब्द हैं जिनसे 'नैन' शब्द का प्रयोग बचाया जा सकता है। लेकिन जिस भाषा में अनेक पर्याय न हों उसका लेखक क्या करे! और जिन शब्दों के विभिन्न पर्याय न हों उनके संबंध में क्या किया जाय!

वास्तविकता यह है कि शब्दों को पुराने अनुषंगों एवं ध्वनियों से मुक्त करने तथा उनमें नये अनुषंग एवं ध्वनियाँ जगाने की क्षमता स्थापित करने के लिये उन्हें नये विचारों, नये चित्रों एवं नई संवेदनाओं के सन्दर्भ में नियोजित करना पड़ता है क्योंकि अंततः विभिन्न शब्दों या पदों का अर्थ उनके सन्दर्भ से निर्धारित होता है। ये सन्दर्भ नवीन युग के नये वस्तु-बोध और नई भाव-चेतना से प्राप्त होते हैं।

अपने को अतीत युग से नितान्त भिन्न वातावरण में पानेवाला लेखक प्रायः नये छन्दों, नये चित्रों, नये अलंकारों (साम्य-वैषम्य-विधानों) आदि का प्रयोग करके अपने युग के स्वतंत्र व्यक्तित्व की घोषणा करता है और पाठकों की अभ्यस्त प्रतिक्रियाओं में हस्तक्षेप करता हुआ उनसे नये कलात्मक बोध और विवेक की मांग करता है।

इसीलिये वे पाठक जो प्राचीनता के, अथवा पिछले युग के, रंग में अधिक रंगे हुए हैं और विशेष कोटि के साहित्य के प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया करने के अभ्यस्त हो गये हैं, नये काव्य-साहित्य को नीरस या दुरूह पाते है। हिन्दी में जिस समय छायावाद का उदय हुआ उस समय ब्रजकाव्य के अभ्यस्त पाठकों को वह रुचिकर नहीं लगा, इसी प्रकार छायावाद के अभ्यस्त पाठकों को आज का प्रयोगवादी साहित्य रुचिकर नहीं लग रहा है।

नवीन साहित्यिक प्रयोगों का इस भांति अरुचिकर लगना क्या अनिवार्य है ? इस प्रकार की स्थिति में लेखकों और पाठकों में कौन कितना दोषी होता है ? दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि—नये प्रयोग-मूलक साहित्य का मूल्यांकन कैसे किया जाय ? क्या मात्र नूतनता या निरालापन काव्य विशेष की महत्ता की निश्चित कसौटी है ?

प्रत्येक सांस्कृतिक क्षेत्र में नये प्रयोगों को समझ सकने के लिये यह आवश्यक है कि उपभोक्ता जनों का नवीन युग संवेदना से परिचय या तादात्म्य हो। और इसका मतलब यह है कि उनमें नये युग के परिवेश या वातावरण, उसकी अभिरुचि के विभिन्न केन्द्रों, उसके संदेहों एवं विश्वासों, उसके नैतिक-सामाजिक द्वन्द्वों की न्यूनाधिक सचेत अवगति हो। जिस व्यक्ति का जीवन युग के परिवर्तित वातावरण से अविच्छिन्न नहीं है वह नई सांस्कृतिक प्रेरणाओं को सहानुभूति न दे सकेगा। प्रायः हमारी शिक्षा परम्परागत संस्कृति के ग्रहण से शुरू होती है, स्थिर एवं कम सचेत मनोवृत्ति के समाजों में वह यहीं परिसमाप्त भी हो जाती है। हमारे देश, विशेषतः उत्तर प्रदेश की, साहित्यिक शिक्षा बहुत-कुछ इसी ढंग की रही है। आज भी हमारी उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों को रीति, लक्षणा-व्यंजना, एवं अलंकारों के भेद-उपभेद घोटने में अपरिमित शक्ति व्यय करनी पड़ती है। इस परिपाटी के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन करने की जरूरत है। हमारे रस-ध्वनिवादी तथा परलोक चिन्तक देश में ऐतिहासिक-सामाजिक दृष्टि एवं आलोचना का एकान्त अभाव रहा है, फलतः हमारे छात्र साहित्य और युग की सापेक्षता को बहुत कम अथवा बिलकुल ही नहीं समझ पाते और छिछले अर्थ में शाश्वतवादी अथवा रसवादी बने रहते हैं। साहित्य युग को प्रकाशित करने का उपकरण है, साहित्य के माध्यम से भी हमें युग की शक्तियों को समझने और उन्हें जीवन की अनुकूलता में ढालने की प्रेरणा प्राप्त होनी चाहिए, विज्ञान और दर्शन, राजनीति एवं समाजशास्त्र की भांति साहित्य भी हमारी चेतना को कूपमंडूकता से मुक्त करने का अस्त्र है—इसे सचेत रूप में हमारे बहुत कम आलोचक जानते हैं और जो जानने का दावा करते हैं वे प्रायः युग-चेतना को वाद-विशेष की जानकारी का पर्याय बना डालते हैं।

युग-जीवन से विच्छिन्न संवेदना वाला पाठक यदि प्रयोगशील साहित्य को सहानुभूति न दे सके तो यह उसका दोष है। बीसवीं सदी में भी जो पाठक या आलोचक तुलसी बाबा के रामनाम के नुसखे को कलिकाल की कठिनाइयों का अमोघ उपचार मानता है, अथवा कबीर और दादू दयाल के रहस्यवाद को मौजूदा सामाजिक कष्टों की अव्यर्थ औषधि समझता है वह

पिछड़ी हुई मनोवृत्ति का द्योतक है। हेगेल और मार्क्स की यह मान्यता कि ऐतिहासिक परिवर्तन अखण्ड नियमों (द्वन्द्वात्मक प्रगति) द्वारा शासित हैं, उन्नीसवीं सदी के उन्नतिवाद की भाँति, आज शंकनीय ही नहीं विश्वास के अयोग्य बन गई है। यदि आइन्सटाइन का सापेक्षवाद द्वंद्वात्मक जड़वाद की प्रतिध्वनि या उसका गणितात्मक संस्करण मात्र नहीं है तो मानना चाहिए कि विश्वब्रह्माण्ड के बारे में, इतिहास के अन्य दार्शनिक सिद्धांतों की भाँति, द्वंद्व-नियम की धारणा एक बौद्धिक अटकल (Speculative Dogma) मात्र है जिसकी वैज्ञानिक ढंग से परीक्षा (वेरीफिकेशन) संभव नहीं है।

प्रगतिवादी आलोचक हिंदी पाठकों और लेखकों पर, थोड़े ही काल के लिये सही, इतना आतंक जमा सके यह भी हमारे जातीय मस्तिष्क के अपरिपक्व अथवा अल्पविकसित होने का चिन्ह है। इससे पहले हिंदी साहित्य रवीन्द्रिक रहस्यवाद से आतंकित और प्रभावित था। टी० एस० इलियट के देश में, जहाँ तक मुझे मालूम है, प्रगतिवादी आलोचना की ऐसी अतर्कित विजय कभी नहीं हुई। कोई मार्क्सवादी अंग्रेजी आलोचक इलियट का समकक्ष भी नहीं बन सका। आश्चर्य की बात है कि हमारे प्रदेश में भी, जहाँ सदियों से समाजशास्त्रीय (Sociological) आलोचना का क्षेत्र सूना पड़ा है, कोई प्रगतिवादी आलोचक शुक्लजी के धरातल तक नहीं पहुंच सका।

बात यह है कि साहित्य में सिद्धांतों की अपेक्षा व्यक्तित्व अधिक महत्वपूर्ण होता है। सैद्धांतिक कट्टरता व्यक्तिगत विकास के मार्ग को रुद्ध या संकीर्ण कर देती है। सब प्रकार की दलबन्दी और कट्टरता युग-संबंधी अवगति के प्रसार को बाधित और सीमित करती है। एक कार्यक्रम पर डटे रहने से आप कर्मठ और सशक्त नेता बन सकते हैं, अच्छे साहित्यकार नहीं। श्रेष्ठ साहित्यिक संवेदना को उन्मुक्त भाव से जीवन को ग्रहण और व्यक्त करना पड़ेगा। वह एक ओर जहाँ दलितों के असंख्य कष्टों का साक्षात्कार करेगी वहां दूसरी ओर प्रेयसी की मुस्कराहट और बालक की मुक्त क्रीड़ा की भी उपेक्षा न कर सकेगी। मुझे भय है कि आज के अनेक (तथाकथित) प्रगतिवादी लेखक, आलोचकों के आतंक के कारण, अपनी संवेदना को पूर्णतया प्रकाशित नहीं करते। उनकी इस दयनीय स्थिति से हमें सहानुभूति होनी चाहिए।

हम प्रयोगशीलता की बात कर रहे थे। प्रत्येक युग को अपना प्रकृति-काव्य और अपना नर-काव्य लिखना पड़ता है। क्यों कि प्रत्येक क्षेत्र में युग-विशेष की अपनी संवेदना होती है, किसी भी पूर्ण वाद या साहित्य-दर्शन को, किसी भी शैली या प्रयोग को, जीवन की जटिल समग्रता के प्रति न्याय कर सकना चाहिए।

अब हम दूसरा प्रश्न उठाएँ—प्रयोग-मूलक साहित्य का मूल्यांकन कैसे हो ! हमारा उत्तर ऊपर संकेतित है। युग-विशेष की समस्त संवेदना, उसका सम्पूर्ण जीवन ही सब प्रकार के साहित्य की (और प्रयोगशील साहित्य इसका अपवाद नहीं) कसौटी है।

सब प्रकार के समकालीन साहित्य की, विशेषतः प्रयोगशील साहित्य की, आलोचना एवं मूल्यांकन का उचित अधिकारी वह व्यक्ति है जो युग-संवेदना के विभिन्न पहलुओं की बौद्धिक जानकारी और उनकी विशिष्ट अभिव्यक्तियों को पहचानने की क्षमता रखता है; अथवा यों कहिए कि जो विशिष्ट अभिव्यक्तियों का अनुचिन्तन करता हुआ उन सामान्य तत्त्वों को पकड़ एवं प्रकट कर सकता है जो युग-संवेदना के अंग या अवयव हैं। ऐसे आलोचक या परीक्षक को काव्य-विशेष के उन तत्त्वों का संकेत कर सकना चाहिए जो उसे अन्य युगों के काव्य से अलग करते हुए अपने विशिष्ट युग का काव्य बनाते हैं।

ऐसे आलोचक की दृष्टि से श्रेष्ठ काव्य वह होगा जो समकालीन संवेदना के अधिकांश तत्त्वों से ग्रथित है, जिसमें युग की संवेदना अपनी समस्त जटिलता में अभिव्यक्त हो सकी है।

अब हम आधुनिक हिन्दी काव्य पर दृष्टिपात करें। हिन्दी में छायावाद एक क्रान्तिकारी प्रयोग के रूप में अवतीर्ण हुआ। वह पूर्ववर्ती काव्य की भाषा, छन्दों आदि से ही नहीं, उसकी संवेदना से भी विच्छिन्न था। वह योरप तथा रवीन्द्र की उस रोमाण्टिक मनोवृत्ति से प्रभावित था जिसका जन्म एक विशिष्ट सांस्कृतिक वातावरण में हुआ था। रोमाण्टिक काव्य की एक प्रवृत्ति अतीतोन्मुखता है जो छायावादी काव्य में भी पाई जाती है, किन्तु वह अतीतोन्मुखता वर्तमान की विशिष्ट संवेदना से निर्धारित और निरूपित है। हमारे देश में योरप का वह युग जिसने रोमांटिक काव्य को जन्म दिया काफी देर से आया, और वह भी विदेशी सत्ता की छत्रछाया में, अतएव हमारे यहाँ उक्त काव्य भी योरप की अपेक्षा से एक शताब्दी बाद प्रकट हुआ। योरपीय काव्य की तुलना में उसका विकास बहुत-कुछ अपूर्ण या अधूरा भी रहा।

छायावादी काव्य की बाह्य रूप-रेखा एक है, उसकी आन्तरिक मनोवृत्ति (स्पिरिट) दूसरी। हिन्दी साहित्य की आलोचनात्मक प्रगति के अविकसित या अर्ध विकसित होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसके लेखक और आलोचक दोनों ही उक्त मनोवृत्ति को ठीक से नहीं समझ पाते। छायावादी कवियों का विश्वास था कि वे उपनिषदों, कबीर, दादू आदि के

सुयोग्य वंशधर अर्थात् रहस्यवादी थे, उनके प्रशंसकों ने छायावाद की प्रशंसा में कहा कि वह आध्यात्मिक काव्य है और भारतीय संस्कृति की आधुनिक अभिव्यक्ति। कवियों और आलोचकों दोनों ने ही यह समझने का प्रयास नहीं किया कि उक्त काव्य कहाँ तक अपने युग की विशिष्ट संवेदना का वाहक बन सका है।

वास्तविकता यह है कि नई युग-संवेदना की अवगति पहले प्रतिभाशाली लेखकों में होती है, आलोचक उसे बाद मे पहचानते और पहचान कर नये लेखकों को प्रतिष्ठित होने में मदद देते हैं। इलियट-पाउण्ड युग का काव्य ही नहीं, रोमाण्टिक काव्य का उत्थान भी इसका प्रमाण है। दूसरी बात यह है कि हमारे जैसे जटिल युग मे नई संवेदना कि आलोचित अवगति अपने विकास के लिये समय माँगती है। छायावादी काव्य रचना का समय इतना थोड़ा रहा कि उसमें वैसी अवगति पूर्णतया विकसित न हो सकी।

छायावादी दृष्टि का सबसे विशद प्रतिपादन और उसका सर्वश्रेष्ठ मंडन महादेवीजी के निबन्धों में मिलता है। वहाँ यह मान कर चला गया है कि छायावादी काव्य आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी है। छायावादी कवियों (और उनके आलोचकों) की यह दृष्टि मुख्यतः रावीन्द्रिक काव्य की प्रशंसामूलक आलोचना से निर्धारित है। इस सम्बन्ध में हमें दो बातें कहनी हैं। हमारे नये युग की "स्पिरिट" लौकिक है, पारलौकिक नहीं; फलतः रवीन्द्र का अध्यात्मवाद वेदान्त और कबीर के मायावाद से भिन्न है। उसकी इस लोक में, इस विश्व में, अपार अभिरुचि है और वह मानववादी (मानव-केन्द्रित) है। दूसरे, रवीन्द्र का महत्त्वपूर्ण काव्य प्रथम महायुद्ध से पहले लिखा गया था। (उन्हें सन् १६११ में नोबेल पुरस्कार मिला था)।

इसके विपरीत छायावादी काव्य का आरम्भ महायुद्ध के बाद हुआ। फलतः इसके स्वर में अवसाद और नैराश्य है। महादेवीजी बुद्ध की "महा-मैत्री" और "महाकरुणा" का उल्लेख करती हैं। रवीन्द्र (और हेगेल) की भाँति छायावादी कवि यह महसूस करने में असमर्थ हैं कि यह विश्व ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, फलतः उनके स्वर में उल्लास नहीं है। जहाँ कहीं किंचित् उल्लास है भी वह प्रकृति-प्रेम के कारण, जैसा कि पन्त में मिलता है; छायावादी उल्लासवृत्ति को अनुभूत सिद्धान्त का बल नहीं है।

सांस्कृतिक दृष्टि से हमारी छायावाद के विरुद्ध शिकायत यह है कि वह कम जागरूक और अपूर्ण रूप में क्रान्तिकारी रहा। रवीन्द्र और उनके प्रशंसकों के प्रभाव में उसने न केवल रहस्यवादी प्रतीकों को अपनाया बल्कि यह समझने की ग़लती भी की कि उसकी मनोवृत्ति आध्यात्मिक और रहस्यवादी

है। फलतः वह अपने क्रान्ति-पथ पर उचित उत्साह और बल से अग्रसर न हो सका। उसने हिन्दी काव्य के आकार-प्रकार में आमूल परिवर्तन उपस्थित किया, उसे नई प्रतीतियाँ। (पर्सेप्शन्स) और नवीन भावनाएँ भी दीं, पर वह नया दर्शन न दिया जो जन-जीवन को नई दिशाओं में बढ़ने की प्रेरणा देता। उलटे, रहस्यवादी प्रतीकों और व्यंजनाओं के दम्भ को आश्रय देकर, उसने अपनी अभिव्यक्ति को अमांसल और दुरूह बना लिया।

इसके विपरीत रवीन्द्र का काव्य न अमांसल है (स्मरण कीजिए, "उर्वशी" और "चित्रा") न दुरूह। जहाँ उनमें एक ओर रहस्यवाद को भूलकर पूर्णतया लौकिक काव्य लिखने का साहस है (जो कि "आँसू" जैसे पार्थिव काव्य के लेखक में भी नहीं है) वहाँ दूसरी ओर उनका अध्यात्म-वाद महायुद्ध के पूर्व के वर्षों की "स्पिरिट" और उस समय के प्रचलित दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुकूल है। इसके विपरीत छायावाद की आध्यात्मि-कता युग की "स्पिरिट" के विरुद्ध है। इसका फल यह हुआ कि छायावाद ने अपने युग की जितनी विवृति की वह अपने सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के बावजूद या उसकी विपरीतता में, छायावादी कवियों की संवेदना और उनकी बौद्धिक मान्यताओं में द्वैत या विरोध है। इस द्वैत का अच्छा निदर्शन 'प्रसाद' की कृतियाँ हैं। उनके नाटकों और उपन्यासों का स्तर एक (लौकिक) है, और काव्य का दूसरा, जैसे वे विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे गये हों। 'गोरा' में रवीन्द्र अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थक हैं, नाटकों में प्रसाद राष्ट्रीयता के। रहस्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता में सामंजस्य है, रहस्यवाद और राष्ट्रवाद में विरोध।

यदि छायावादी कवि अपनी और युग की संवेदना के अनुकूल जीवन-दर्शन बना पाते तो वे अपने युग को पूर्णतर अभिव्यक्ति दे सकते। बुद्धि और संवेदना के द्वैत के कारण ही छायावाद अपने युग को स्पष्ट अभिव्यक्ति न दे सका। बौद्धिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ रहने कारण ही उसने अपने विरुद्ध प्रगतिवादी प्रतिक्रिया को जन्म दिया।

जिसे हम युग-संवेदना कह रहे हैं उसके अनेक पहलू होते हैं। प्रत्येक युग अपने ढंग से देखता, सोचता और महसूस करता है, और अपने ढंग से नैतिक प्रतिक्रिया करता है। छायावाद का देखने-महसूस करने का ढंग बहुत कुछ नवीन था, किन्तु वह जीवन के प्रश्न-पक्ष के प्रति उदासीन था। उसके कवियों में युगोचित जीवन-दर्शन के सृजन की क्षमता न थी; इस दृष्टि से "कामा- [illegible] एक दोगली शैली का प्रयत्न है।

[illegible] में छायावाद की प्रभावशाली कृति भी होता था, किन्तु

थे इस पलायन की परिपूर्ण व्याख्या न दे सके। रहस्यवाद और आध्यात्मिकता की आड़ में छायावादी कवि जहाँ एक ओर युद्धोत्तर काल के नास्तिक संदेह और अविश्वास से अपरिचित दीख रहे थे वहाँ दूसरी ओर मानव-सुलभ वासनाओं को सीधे स्वीकार और व्यक्त करने के साहस से भी वंचित थे। मालूम पड़ता है जैसे वे रहस्यवादी साम्प्रदायिकता की झोंक में युग को अपनी आँखों से देखना और अपनी बुद्धि से समझना ही भूल गये थे। प्रगतिवाद ने मुख्यतः छायावाद के नैतिक पलायन के पक्ष पर ही ज़ोर दिया। युग-संवेदना के दूसरे रूपों, उसका संदेह और उससे उत्पन्न प्रखर अन्तर्द्वन्द्व, उसकी बौद्धिकता और विश्लेषणप्रियता, उसकी ऐहलौकिक मनोवृत्ति और मानव-केन्द्रितता आदि का उद्घाटन करते हुए उनकी कसौटी पर छायावाद को परखने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया।

प्रयोगशीलता और परम्परा

हमने कहा कि प्रयोगशील साहित्य—और प्रत्येक नये युग का साहित्य विगत युग की अपेक्षा से प्रयोगशील होता है—आकार या शैली में विद्रोही होता है। क्या इसका यह अर्थ है कि उसका अतीत युग या युगों से कोई सम्बन्ध नहीं होता? हमारा उत्तर है—नहीं। पूर्व युगों से कोई भी सम्बन्ध न रहने पर नये युग का साहित्य, अपने देशवासियों के लिये, अबुद्धिगम्य या दुर्बोध हो जायगा। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि नया साहित्य अपने विचारों और मनोवृत्ति में विद्रोही या क्रान्तिकारी नहीं हो सकता। समर्थन द्वारा ही नहीं, पुनर्व्याख्या और विरोध द्वारा भी नया युग प्राचीन युगों से सम्बन्ध जोड़ता और इस प्रकार अपने को बुद्धिगम्य बनाता है। हमारे देश में प्रायः सुधारक नेता प्राचीन की युगोचित व्याख्या करते आये हैं। गान्धी और तिलक कृत गीता की व्याख्याएँ इसका आधुनिक निदर्शन हैं। प्रकारान्तर से छायावाद ने भी यही किया। प्रसाद ने पौराणिक कथाओं को छोड़ कर लोकपरक ऐतिहासिक कथानक लेकर नाटक लिखे, निराला के 'तुलसीदास' का स्वर भी लौकिक है। पुनर्व्याख्या मात्र से सन्तुष्ट रहने के कारण छायावाद अपने विचारों में उतना क्रान्तिकारी न बन सका जितना कि शैली में।

देखने की बात यह है—और महादेवीजी ने इस पर गौरव दिया है—कि छायावादी कवि भारतीय परम्परा से परिचित हैं। प्रगतिवादियों ने इस परिचय की वाञ्छनीयता पर गौरव नहीं दिया, अपितु उसे अवहेलनीय समझा।† इसके फलस्वरूप हम तथाकथित प्रगतिवादी लेखकों में उस

† गत वर्ष (१६४६ में) लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर एक प्रसिद्ध आलोचक ने लेखकों को सलाह दी कि

कलात्मक गौरव और विचारात्मक गहराई की न्यूनता या अभाव पाते हैं जो दीर्घ सांस्कृतिक साधना से प्राप्त होती हैं। भारतीय संस्कृति और नये युग की संवेदना दोनों से काफी परिचित होने पर ही कलाकार अभिव्यक्ति के उन सब उपकरणों से सज्जित हो सकता है जो जटिल एवं समग्र कला-सृष्टि के लिये अपेक्षित हैं। प्रगतिवादियों ने युग-संवेदना के अन्य तत्वों की भी, जो साक्षात् उनकी विशिष्ट राजनीति से सम्बद्ध नहीं हैं, अवहेलना या उपेक्षा की है।

अब हम प्रयोगशील साहित्य के उस रूप पर दृष्टिपात करेंगे जिसका नेतृत्व अज्ञेय तथा "तारसप्तक" के अन्य कवि कर रहे हैं। भाषा, छन्दों और अनुभूति सभी दृष्टियों से ये कवि छायावाद से स्पष्टतया भिन्न काव्य-शैली के प्रतिष्ठाता कहे जा सकते हैं। इन में दो-एक कवि प्रगतिवादी भी कहे जाते हैं, पर इस शैली का प्रगतिवाद से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।

हिन्दी आलोचना ने इस चौमुखी नवीनता की पर्याप्त दाद अभी तक नहीं दी है, यद्यपि स्वयं ये कवि काफी संगठित हैं, और उन्हें "प्रतीक" जैसा पत्र भी प्राप्त है। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक युग यथार्थ के विस्तृत प्रांगण से कुछ छवियों का प्रत्याहरण (एब्स्ट्रैक्शन) या चयन करता है और कल्पना द्वारा उनका पुनर्ग्रथन करके अपना नया काव्य लिखता है। कालान्तर में यथार्थ का रूप बदलता है, किन्तु काव्य-साहित्य उन पुरानी छवियों की रूढ़ि ढोता चलता रहता है। दो-डेढ़ सौ वर्ष तक अंग्रेजों के आने के बाद भी ब्रजभाषा का रीति-काव्य निश्चित रूढ़ियों के पथ पर चलता रहा। भारतेन्दु और बाद में छायावाद ने उस पथ को छोड़ने का प्रयत्न किया। छायावाद ने क्रान्ति उपस्थित की; वैसी ही क्रान्ति हमारे प्रयोगशील कवि उपस्थित करना चाहते हैं।

छायावाद ने हमें नया प्रकृति-बोध और नई भावनाएँ दीं, किन्तु इन दोनों का केन्द्रभूत स्रोत था व्यक्ति का अन्तःकरण। छायावाद मुख्यतः परिवर्तित व्यक्ति का भावचित्र है; इस परिवर्तन की हेतुभूत परिस्थितियों पर उसकी दृष्टि कम है, प्रायः नहीं है। इसके विपरीत आज का प्रयोगशील कवि मुख्यतः बहिर्मुखी है। छायावादी कवि, सुकुमार भावनाओं का भार लिये,

---

वे मार्क्स की कृतियों का और अधिक अध्ययन करें। हमारा दृढ़ विश्वास है कि भारतीय लेखकों के लिए यह अध्ययन कभी भारतीय संस्कृति से परिचित होने का स्थानापन्न नहीं हो सकता। स्वयं मार्क्स में योरोपीय इतिहास और संस्कृति की आश्चर्यजनक जानकारी पाई जाती है। इस जानकारी के लिए अपेक्षित साधना प्रत्येक महत्वपूर्ण लेखक को स्वयं करनी पड़ती है।

प्रायः उन्हें बाह्य जगत पर लादता फिरता है; वह भावुक है, रोमांटिक है; आज का कवि अपेक्षाकृत यथार्थवादी है। आध्यात्मिकता का अविश्वास उसे बरबस धरती की ओर ले गया है। प्रयोगवादी कवि हिन्दी कविता को छायावादी आध्यात्मिकता और भावुकता की झनकार से मुक्त करना चाहते हैं। इसके लिए वे साधारण जीवन की पदावली और प्रतीतियों का उपयोग करते हैं और, समय-समय पर, उर्दू शब्दों और छन्दों का प्रयोग करके अपनी मनोवृत्ति के वैषम्य की घोषणा करते हैं। माचवे के शब्दों में 'हिंदी कविता में अभी विषयों की विविधिता, व्यंग का तीक्ष्ण और सुरुचिपूर्ण प्रयोग, प्रकृति के सम्बन्ध में अधिक वैज्ञानिक दृष्टि, जन-जीवन के निकटतम जा कर ग्राम गीत, लोक-गाथा और बाजारू कहलाई जाकर हेय मानी जानेवाली बहुत सशक्त और मुहावरेदार जबान के नये-नये शब्दरूपों और कल्पना-चित्रों को ग्रहण करना आना चाहिए।' 'बाज़ारू', इस शब्द में उस बृहत् सांस्कृतिक क्रांति का संकेत है जो प्रयोगशील साहित्यकार उपस्थित करना चाहते हैं। आज हम अपने जीवन को आध्यात्मिकता तथा सुरुचि की पुरानी तुलाओं पर तोलने को तैयार नहीं हैं। आज मनुष्य अपने को "प्रकृति की संतान" समझने का अभ्यस्त बनना चाहता है, "ब्रह्म या अमृत की संतान" नहीं।

नवीन प्रयोगशील काव्य के सम्बन्ध में हमारी एक शिकायत है, और एक आशंका भी है।

'कविता में विषय से अधिक "टेकनीक" पर ध्यान दिया गया है', ये शब्द (तारसप्तक में) श्री गिरिजाकुमार माथुर के हैं। वस्तुतः यह स्थिति प्रायः सभी प्रयोगशील कवियों की है। उनकी शक्ति, अब तक, मुख्यतः शैलीगत भिन्नता उपलब्ध करने में खर्च हुई है। स्पष्ट ही ऐसी स्थिति स्वस्थ या नार्मल नहीं है। बात यह है कि शैलीगत भिन्नता एवं निरालापन साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य है, कवि-विशेष की विशिष्ट दृष्टि से, युग-जीवन का प्रकाशन। अन्ततः शैली की नवीनता में कवि के व्यक्तित्व या दृष्टि का निरालापन प्रतिफलित होना चाहिए। प्रयोगशील कवियों में इस प्रकार के दृष्टिगत निरालेपन को विकसित करने की चेष्टा का हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। प्रयोगमूलक साम्य की उपस्थिति तथा अनुभूतिगत (दृष्टिमूलक) निरालेपन के अभाव में इन कवियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व को खोज निकालना भी कठिन जान पड़ता है।

उक्त दृष्टि के विकसित न हो सकने का मूल कारण है युग के सुख-दुख, मानव व्यक्तित्व की ऊर्ध्व अथवा निम्न गति के प्रति, जिम्मेदारी की भावना की न्यूनता। हमें इसका विशेष संकेत नहीं मिलता कि हमारे प्रयोगशील कवियों में युग या मानवता के प्रति ममत्व की भावना है—वह भावना जो

कलाकार को युग-चेतना के मर्मस्थलों पर दृष्टिपात करने को विवश करती है। संक्षेप में, हमारी शिकायत यह है कि तथाकथित प्रयोगशील कवि विक्षुब्ध एवं आहत मानवता के प्रति अपने दायित्व का उचित मात्रा में निर्वाह नहीं कर रहे हैं। हमारे इन कवियों को याद रखना चाहिए कि संसार में कोई ऐसा श्रेष्ठ कवि नहीं हुआ जिसने अपने युग का प्रकाशन करते हुए मानव संस्कृति की प्रगति में योग न दिया हो। अन्ततः काव्य केवल शैली, केवल छन्दों, चित्रों, एवं साम्य-वैषम्य विधानों की, क्रीड़ा मात्र नहीं है।

इसके अतिरिक्त हमें एक आशंका भी है। हिन्दी में छायावाद शैलीगत क्रान्ति लेकर आया, उसने हमें नये छन्द, नये अलंकार और नई व्यंजनाएँ दीं। उसका जीवन मुश्किल से बीस वर्ष रहा। क्या इतनी जल्दी-जल्दी शैलियों का आमूल परिवर्तन हमारे साहित्य के लिये हितकर है? क्या छायावादी छन्दों तथा शब्दकोश की सम्भावनाओं का पूरा उपयोग किया जा चुका? हमारा विचार है, नहीं। किसी भी शैली को पूर्ण रूप देने और उसकी सम्भावनाओं का पूरा उपयोग करने के लिये लम्बा जातीय प्रयत्न अपेक्षित होता है। योरप की तथाकथित क्लासिक-रोमांटिक काव्य की परम्पराएँ एक एक शताब्दी में फैली रही हैं; अंग्रेजी का सॉनेट तथा उसमें निर्धारित छन्द अंग्रेजी साहित्य के समूचे इतिहास में प्रयुक्त होता पाया जाता है। हिन्दी में दोहे तथा कवित्त-सवैया आदि की लम्बी परम्परा रही है। इन दृष्टियों से छायावाद के बीस वर्ष बहुत ही थोड़ा समय है। हमारा विश्वास है कि उसके विविध छन्दों की सम्भावनाओं का अभी तक नितान्त अधूरा उपयोग हुआ है। छायावाद के भीतर से ही विकसित किन्तु अधिक यथार्थोन्मुख शैली के दर्शन हमें पन्त की "ग्राम्या" के कुछ अंशों (वे आँखें, वह बुड्ढा, ग्राम-नारी, [illegible] आदि) में हुए थे; क्या नहीं [illegible] ने ही उस ढंग की रचना करना बन्द-सा कर दिया।

हमारा मतलब है कि छन्दों आदि की नवीनता के आडम्बर के बिना भी, केवल वस्तुगत [illegible] के बल पर, हमारा नया काव्य अपने [illegible] को [illegible] कर सकता है। नये छन्दों का प्रयोग वर्जित नहीं है—[illegible] की [illegible] में वह [illegible] है, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि [illegible] नवीनता का [illegible] है, केवल शैली के [illegible] नहीं। युग-चेतना में पगे हुए [illegible] के [illegible] में [illegible] युग का [illegible] का प्रश्न करना है। (मार्च १९५०)

किरण-सञ्चय

काव्य की दो कोटियाँ

(१)

साहित्य रागबोधात्मक अनुभूति अथवा उसकी अभिव्यक्ति है। जीवन में भी इस प्रकार की अनुभूति मिलती है; भेद यही है कि जीवनगत अनुभूति, प्रायः, वैयक्तिक अर्थात् व्यक्तिगत हानि-लाभ से सम्पृक्त होती है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि जीवन और साहित्य में कोई आवश्यक विरोध है। वस्तुतः साहित्य में अभिव्यक्त होनेवाली अनुभूति साहित्यकार की जीवनानुभूति का ही अंग होती है। और केवल साहित्यकार की अनुभूति का अंग ही नहीं—संस्कृत पाठक भी उस प्रकार की प्रतिक्रिया या अनुभूति के अभ्यस्त बन जाते हैं।

कलात्मक अनुभूति का मूल मानवता की सामान्य राग-बोधात्मक प्रकृति और उसकी कल्पना-मूलक सम्भावनाओं में रहता है।

(२)

शायद यह हमारा स्वभाव है कि हम अपनी विभिन्न शक्तियों या क्षमताओं का व्यायाम अथवा उपभोग करना चाहते हैं। हमारी जिज्ञासा-वृत्ति शतशः पदार्थों की परीक्षा करके अपने को चरितार्थ करना चाहती है। इसी प्रकार, वयःसन्धि के समय से, हम किसी से प्रेम करने को उतावले होने लगते हैं। रस-सिद्धान्त के स्थायीभाव हमारी इस प्रकृति के ही विभिन्न पहलू हैं। जीवधारियों की खेलने की प्रवृत्ति का भी, शायद, यही रहस्य है।

(३)

काव्य या साहित्य की दो मुख्य कोटियाँ होती हैं; एक कोटि है, आत्मनिष्ठ, भावुकता-मूलक, अथवा रोमांटिक; दूसरी कोटि है, वस्तुपरक, सन्तुलित अथवा क्लासिक। इन कोटियों के द्वन्द्व, रोमांटिक और क्लासिक प्रवृत्तियों के मात्रा-भेद से, अनेक उपकोटियों का न्यूनाधिक विविक्त किया जा सकता है।

(४)

रोमांटिक काव्य उत्तेजना और भावुकता में जन्म लेता है। प्रेम की भाँति उसमें शान्ति का—आत्म-लाभ का—उपदेशशून्य अभिनय होता है।

ये सब लक्षण वयःसंधि काल के हैं जब युवक और युवती आन्तरिक रागातिरेक को जिस-तिस आकर्षक व्यक्ति या पदार्थ पर लुटाते फिरते हैं। रोमांटिक काव्य में, दृष्ट वास्तविकता के अनुपात में, रागात्मक प्रतिक्रिया अधिक तीव्र होती है; यह तीव्रता विशेष उमंग, प्रवाह एवं ओज (Energy) के रूप में दिखाई पड़ती है। केवल भावुकता-प्रधान रोमांटिक काव्य निकृष्ट कोटि का होता है; श्रेष्ठ रोमांटिक काव्य में गतिपूर्ण उमंग एवं ओज रहता है। रोमांटिक काव्य या साहित्य की एक स्पृहणीय विशेषता प्रवाह है।

(५)

सूर की तुलना में तुलसीदास रोमांटिक हैं; टॉल्स्टॉय की तुलना में शेक्सपियर रोमांटिक है। रीतिकालीन कवियों में बिहारी लाल वस्तु-परक कलाकार हैं।

(६)

बालक उन्मुक्त होकर खेलते हैं, उन्हें थक जाने की परवाह नहीं होती। अंगों में न समा सकनेवाली शक्तियों के सदुपयोग की चिन्ता वे नहीं करते। समझदार वयस्क स्त्री-पुरुष परिमित व्यायाम करते हैं। शारीरिक परिश्रम से जीनेवाला मजदूर व्यायाम भी नहीं करता—उसके शरीर की शक्ति केवल काम के लिये होती है।

आत्मनिष्ठ रोमांटिक साहित्यकार अपनी भावुकता को स्वच्छन्द बिखेरता फिरता है—उसे अपने राग-तत्त्व के सद्व्यय की चिन्ता नहीं होती—क्योंकि उसे जीवन की उन जटिल एवं विराट् वास्तविकताओं का परिचय नहीं होता जो वस्तुतः रागात्मक आलोड़न अर्थात् गम्भीर रागात्मक प्रतिक्रिया की पात्र हैं। जैसे-जैसे कलाकार का जटिल वास्तविकता से परिचय बढ़ता जाता है उसकी रागात्मक प्रतिक्रिया अधिक संतुलित होती जाती है।

(७)

तीव्रता और गहराई में अन्तर है।

(८)

तुलसीदास राम के शिशु-रूप पर उतने ही मोहित हैं जितने कि सूर कृष्ण पर। किन्तु सूर का आवेग वास्तविकता के अधिक सूक्ष्म परिचय पर आधारित है। दोनों कवि हमें अपने आराध्यों को प्यार करने का निमंत्रण देते हैं, किन्तु सूर का निमंत्रण अधिक सफल होता है। अन्ततः वस्तु-परक साहित्य जितना गहरा प्रभाव छोड़ता है वैसा आत्मनिष्ठ साहित्य नहीं।

विक्टर ह्यूगो का 'ले मिज़राब्ल' आत्मनिष्ठ उपन्यास है। उसमें तीव्रता है, तड़पन है, जैसी कि वयःसंधि के प्रेमियों में होती है। टॉल्स्टॉय के उप-

न्यासों में गंभीर आवेग है। 'मेघदूत' में भी वैसा ही आवेग है। कालिदास की तुलना में रवीन्द्र का प्रकृति-प्रेम कम वस्तु-निष्ठ अर्थात् रोमांटिक है।

(९)

जीवन की अनन्त जटिल वास्तविकताओं की चेतना रखनेवाले कलाकार को इतना अवकाश ही कहां होगा कि वह भावुकता का प्रदर्शन करे; वह अपनी संवेदनशीलता का परिचय जीवन की मर्मवृत्तियों के सफल चित्रण द्वारा करता है।

(१०)

क्लासिक कलाकार भी रोमांटिक पात्रों की अवतारणा कर सकता है क्योंकि रोमाण्टिक मनोवृत्ति के नर-नारी जीवन की वास्तविकता का अंग हैं। शेक्सपियर ने जहाँ एक ओर कूट-चरित 'आयेगो' की सृष्टि की है वहाँ तेजस्विनी सौंदर्य-शिखा राज-प्रणयिनी 'क्लिओपेट्रा' की भी।

(११)

रोमाण्टिक काव्य में प्रवाह उत्पन्न करना अपेक्षाकृत सरल है। वस्तु-परक काव्य को प्रवाहमय बनाना लम्बे अभ्यास की अपेक्षा रखता है। श्रेष्ठ संस्कृतकवियों की शैली वस्तु-परक होते हुए प्रवाहमयी है। यही बात सूर के काव्य पर लागू है। टॉल्स्टॉय के उपन्यासों का प्रवाह भी वैसा ही है। इस प्रवाह की दाद दे सकने के लिए अधिक परिपक्व मस्तिष्क चाहिए।

वस्तु-परक काव्य में प्रवाह होने का मतलब है जीवन अर्थात् वास्तविकता का अखण्डित परिचय, और उसे व्यक्त करने की अकुण्ठित क्षमता।

(१२)

चिंतन के क्षेत्र में वस्तु-निष्ठता ईमानदारी का पर्याय है; बौद्धिक से अधिक वह एक नैतिक विशेषता है। बहुत हद तक श्रेष्ठ क्लासिक कलाकार भी वस्तु में रमता हुआ अपने को भूल जाता है; विचारकों के लिए तो यह विशेषता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। उच्च विचारक में अपने विचारों या सिद्धांतों के प्रति अभिनिवेश नहीं होना चाहिए। उसका ध्येय वास्तविकता की व्याख्या होती है, विचार-विशेष की हार-जीत नहीं। ऐसा विचारक सदा अपने मस्तिष्क को खुला रखेगा; और पुराने मन्तव्यों को छोड़ने को बाध्य होने पर उसे लज्जा या ग्लानि न होगी।

श्रेष्ठ आलोचक को भी अपने निर्णय में अभिनिवेश नहीं होना चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि श्रेष्ठ समीक्षक या चिन्तक अपनी बात को गौरव एवं प्रभविष्णुता से न कहे, किंतु ये विशेषताएँ उसके आत्म-विश्वास की प्रतीक होनी चाहिएँ, अभिनिवेश की नहीं।

(१३)

समीक्षक में असली आत्म-विश्वास महान् लेखकों के गाढ़े परिचय से उत्पन्न होता है। सिद्धांतों पर आधारित आत्म विश्वास उतना सही एवं विश्वसनीय नहीं होता। साहित्यिक मूल्यांकन का अन्तिम आधार विकसित रसानुभूति है। श्रेष्ठ कलाकारों के सम्पर्क से ही रसानुभव की क्षमता परिपक्व होती है।

(१४)

यह अनिवार्य है कि रसानुभूति के क्रमिक विकास से वे साधारण लेखक या कृतियाँ जो कल तक हमें बहुत प्रिय लगती थीं अब उतनी प्रिय न लगें। ऐसी स्थिति में आलोचनात्मक सम्मतियों में अभिनिवेश समीक्षक के व्यक्तित्व की वृद्धि में बाधक हो सकता है।

(मई, १९५०)

२—साहित्य में रागतत्व

(देव और बिहारी; अश्लीलता; विरह-काव्य)

(१)

टी. एस. इलियट ने एक जगह लिखा है कि आवेग के बिना भी, केवल सम्वेदनाओं (फीलिंग्ज़) से, साहित्य का निर्माण हो सकता है। इलियट की प्रत्येक उक्ति विचारणीय होती है।

(२)

हमें लगता है कि "इमोशन" या आवेग का सम्बन्ध हमारी जीव प्रकृति (बायोलॉजिकल नेचर) से होता है जब कि "फीलिंग" या सम्वेदना अधिक परिष्कृत, अधिक बौद्धिक एवं सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक-नैतिक चेतना से सम्बद्ध होती है। मतलब यह कि "फीलिंग्ज़" से बना साहित्य अधिक संस्कृत रुचि का द्योतक होता है।

यहाँ हम "फीलिंग" शब्द का स्वीकृत मनोवैज्ञानिक अर्थ में प्रयोग नहीं कर रहे हैं। मेक्डूगाल ने आवेगों को मूल प्रवृत्तियों (इंस्टिंक्ट्स) से सहचरित वर्णित किया है। उन्होंने आवेग और "सेंटीमेंट" (अर्थात् अपेक्षाकृत स्थायी रागात्मक प्रतिक्रिया के स्वभाव) में अन्तर किया है।

आवेग अपेक्षाकृत अस्थायी होता है। आप नौकर पर क्रोध करते हैं और थोड़ी देर में शांत हो जाते हैं, किंतु किसी के प्रति आपकी घृणा दीर्घ-काल-व्यापिनी होती है; वह आसानी से शमित नहीं होती। आवेग की तुलना उस ज्वाला से की जा सकती है जो सूखे ईंधन के सहसा जल उठने से उत्पन्न होती है, इसके विपरीत "सेंटीमेंट" उस अग्नि के समान होता है जो कुछ गीले ईंधन का आश्रय लेकर बहुत काल तक सुलगती रहती है। पहली दृष्टि में मालूम पड़ता है कि ज्वाला ही अधिक महत्वपूर्ण होती है, पर बात ऐसी नहीं है।

एक कविता होती है जो कुछ क्षणों के लिए हममें तीव्र आवेग या आलोडन उत्पन्न कर देती है; ऐसी कविता में स्थायी रागात्मिका ग्रन्थि या स्मृति निर्मित कर देने की क्षमता कम होती है। काव्य में यह दूसरी क्षमता

.तप आती है जब वर्णित विषय का जीवन अथवा जीवन-संबंधी विचारों (जीवन-दर्शन) की जटिल व्यापकता से संबंध जोड़ दिया जाता है।

पहले प्रकार का काव्य साहित्य केवल हमारी जीव प्रकृति को आन्दोलित करता है, दूसरी कोटि का साहित्य हमारी समस्त बौद्धिक मनोवैज्ञानिक गठन को प्रभावित करता है। यह नहीं कि दूसरी कोटि के काव्य की जड़ें जीव-प्रकृति में नहीं रहतीं, किंतु उसमें जीव-प्रकृति की मौलिक उत्तेजना बौद्धिक-मनोवैज्ञानिक जटिलताओं में उलझ कर अपनी तीव्रता या वेग कम कर देती हैं। शैल निर्झर में गति अधिक होती है, किंतु गहराई समतल में बहने वाली नदी में ही पाई जाती है।

(३)

कुछ छन्द आवेगात्मक तीव्रता का वहन करने में समर्थ होते हैं, कुछ संवेदनात्मक गहराई का। ब्रज काव्य के कवित्त और सवैया छन्द प्रायः पहली कोटि के हैं।

कवि देव में आवेगात्मक तीव्रता है, सूर के पदों में रसात्मक गहराई है। निम्न पद्यों की परीक्षा कीजिए :—

(१) को जानै री बीर, बिनु बिरही बिरह-बिथा ?
हाय-हाय करि पछताय, न कछू सोहात,
बड़े बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात।
(देव)

(२) स्याम सुरति कर राधिका तकति तरनिजा तीर।
अँसुवन करत तरौंस को खनिक खरौंहो नीर॥
(बिहारी)

पहले पद्य में जिस कष्ट का वर्णन है उसका प्रभाव शरीर तक सीमित है। इसके विपरीत दूसरे पद्य की वेदना हमारे मन में एक अमिट लकीर-सी खींचती प्रतीत होती है। दो और पद्य लीजिए:—

(३) माखन-सो मन दूध-सो जोबन, है दधि ते अधिकै उर ईठी,
जा छबि आगे छपाकर छाछ समेत सुधा बसुधा सब सीठी,
नैनन नेह चुवै कवि देव बुझावति बैन-वियोग—अँगीठी,
ऐसी रसीली अहीरी अहै कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी।
(देव)

२—बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय
सौंह करे, भौंहनि हँसे, देन कहे, नटि जाय !
(बिहारी)

प्रथम पद्य की नायिका में हमारी सहज असंस्कृत दृष्टि को लुभानेवाला रूप और यौवन है, दूसरी में जटिल बौद्धिकता का सौंदर्य। आप निर्णय कीजिए आपको कौन-सी अधिक पसन्द है !

एक दूसरे क्षेत्र का उदाहरण लीजिए—

अटल अखण्ड अबाधित गति से
चक्र चल रहा परिवर्तन का,
कौन पकड़ रख सकता जीवन,
कौन निवारण करे मरण का।

यहाँ जो संवेदना जगती है वह देव की विरहिणी की तड़पन से भिन्न है, वह भी हमारे हृदय पर एक गहरी वेदना की लकीर तो छोड़ देती है।

देव के काव्य में निसर्ग-सिद्ध जीव-प्रकृति एवं उससे अनतिदूरवर्तिनी मनोवैज्ञानिक प्रकृति का चित्रण है, सूर और बिहारी में सूक्ष्मतर मनोवैज्ञानिक प्रकृति का। जीवन की व्यापक पीठिका में प्रतिष्ठित होने के कारण सूर का काव्य अधिक स्थायी प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है।

उक्त दोनों ही कवियों में नैतिक द्वन्द्व एवं जटिलताओं का सर्वथा अभाव है। उन्होंने व्यक्तित्व के रमणीय पक्षों को देखा है; उसके गुरु-लघु अथवा हेय एवं उदात्त रूपों की चेतना उनमें नहीं है। यह चेतना संस्कृत कवियों में है, तुलसीदास में है। भेद यही है कि संस्कृत कवि मानव-व्यक्तित्व को लौकिक जीवन की अपेक्षा से देखते हैं, तुलसी प्रायः मुक्ति अथवा ईश्वर-भक्ति के लोकबाह्य पैमानों की अपेक्षा से।

(५)

कभी-कभी, सभ्यता की गहन नैतिक-मनोवैज्ञानिक चेतना से ऊबकर, हम विशुद्ध जीव-प्रकृति की अभिव्यक्ति की ओर प्रभावित होते हैं। फलतः जीवन और साहित्य दोनों में, खुले या प्रच्छन्न रूप में, अश्लीलता स्थान बना लेती है।

अश्लीलता का प्रच्छन्न प्रकाशन, जीवन (परिहास) और काव्य दोनों में, रुचिकर लगता है।

(६)

यहाँ प्रश्न उठता है—यदि साहित्य में अश्लीलता अर्थात् विशुद्ध जैवी प्रकृति से सम्बद्ध कामनाओं का प्रच्छन्न प्रकाशन प्रिय लगता है तो स्वस्थवादी !

बुद्धि का चमत्कार केवल ऐसा ही साहित्य क्यों न लिखे ? दूसरे, क्योंकि वासनाएँ मानव-प्रकृति का स्थायी तत्व हैं इसलिये कलात्मक दृष्टि से भी ऐसे साहित्य को स्थायी महत्व का वाहक होना चाहिए; फिर, विशुद्ध कला की दृष्टि से, इसी प्रकार के साहित्य को क्यों न प्रोत्साहित किया जाय ? और यदि आनन्द ही कला का लक्ष्य है तो मानना चाहिए कि मूल वासनाओं का सरस उपभोग करानेवाला साहित्य ही विशेष मान्य होगा। ऐसी दशा में मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक सूक्ष्मताओं से अनुप्राणित साहित्य का आनन्द एवं कला की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं होना चाहिए।

(७)

ऊपर के प्रश्नों के पीछे यह भावना या विश्वास छिपा है कि मनुष्य की मूल जीव-प्रकृति एवं उसकी सभ्यता में विरोध है, कि मनोवैज्ञानिक-नैतिक ग्रन्थियों का विकास मानव प्रकृति का नैसर्गिक अथवा अवियोज्य अंग नहीं है। हमारी समझ में यह मान्यता सचाई का पूर्ण रूप नहीं है।

यह ठीक है कि सभ्यता के दबाव से हमें कभी-कभी अपनी वासनाओं को अस्वीकार करना पड़ता है, और हम उनकी अभिव्यक्ति पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाते हैं जिसके फलस्वरूप साहित्य में उनके प्रच्छन्न प्रकाशन की युक्तियाँ खोजनी पड़ती हैं। किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि मानव-प्रकृति में स्थूल वासनाओं से ऊब या थककर सूक्ष्म चेतना के स्तरों में पैठने की प्रवृत्ति भी है। यह भी सत्य है कि मनुष्य स्वभावतः ही नैतिक पैमानों का प्रयोग करता और नैतिक प्रभेदों के आधार को निर्धारित करने की चेष्टा करता है। मतलब यह कि जिसे सभ्यता और संस्कृति कहते हैं वह मानव-प्रकृति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

शारीरिक शक्तियों के अतिरेक की अवस्था में मनुष्य को वासनाओं की कल्पना-मूलक तृप्ति देनेवाले चित्र, बातचीत एवं साहित्य भले लगते हैं; किन्तु शरीर की विशेष उत्तेजना के अभाव में, मन और इन्द्रियों की स्वस्थ एवं संतुलित स्थिति में, वही मनुष्य बोधात्मक सूक्ष्मता एवं रसात्मक गहराई की अपेक्षा करता है। अपने अथवा दूसरे के ऊपर होते अन्याय को देखते हुए उसकी नैतिक वृत्तियां भी प्रबुद्ध हो उठती हैं।

हमारा मतलब यह है कि यदि नैतिक-मनोविज्ञानिक उलझनें मानव-प्रकृति का निसर्ग-सिद्ध अंग न हों तो उनकी विवृति करनेवाला साहित्य हमें प्रिय न लगे। इसके विपरीत देखा यह जाता है कि विकसित संवेदना के पाठक, आलोचकों के मतामत की चिन्ता किये बिना भी, इस प्रकार के चेतना-विकासी साहित्य को पसन्द करते हैं। बिहारी की लोकप्रियता इसका निदर्शन है।

"रेन बो" (इन्द्र धनुष) उपन्यास में डी० एच० लारेंस ने एक दम्पती का वर्णन किया है जो सांस्कृतिक धरातलों के भेद के कारण एक-दूसरे से घृणा करते हैं ; स्त्री कम संस्कृत पति को अवज्ञा की दृष्टि से देखती है और इसीलिये पति अधिक संस्कृत पत्नी को घृणा की दृष्टि से। किन्तु वे दोनों ही एक अवसर पर तीव्र एकता अथवा तादात्म्य का अनुभव करते हैं, अर्थात् शारीरिक मिलन के अवसर पर । उस अवसर पर प्रायः प्रत्येक स्त्री-पुरुष तीव्र राग या आसक्ति का अनुभव करते हैं। स्पष्ट ही यह आसक्ति, जैसा कि लारेंस ने दिखाया है, उस मनोवृत्ति से भिन्न है जिसे हम मैत्री या प्रकृत प्रेम कहते हैं।

स्थायी मैत्री या प्रेम की भूख मानव-प्रकृति की नैसर्गिक भूख है, वह कम-से-कम उतनी ही वास्तविक है जितनी की काम-मूलक वासना। हम कहना चाहते हैं कि जीवन की भाँति साहित्य में भी, कुल मिलाकर, गहरी मित्रता या प्रेम का चित्रण जितनी तृप्ति देता है उतनी स्थूल वासनापूर्ति का चित्रण नहीं। जिस प्रकार जीवन में दो व्यक्तियों की मित्रता उसी अनुपात में गाढ़ी एवं स्थायी होती है जिस अनुपात में उनके व्यक्तित्वों के अनेक तत्व एक-दूसरे से मेल खाते हैं उसी प्रकार साहित्य में भी केवल शारीरिक मिलन की अपेक्षा सूक्ष्म-जटिल मनोवैज्ञानिक एकरूपता का चित्रण अधिक स्थायी अथवा गहरा रसोद्रेक करता है।

प्रेम और विरह के चित्र खड़े करनेवाले कवि देव के सवैया और कवित्त प्रायः नायक-नायिका की उस अवस्था को मूर्त्त करते हैं जो मुख्यतः, स्थूल जीव-प्रकृति एवं उसकी निकटवर्तिनी मनोवैज्ञानिक प्रकृति के धरातल पर, उनके शारीरिक स्पन्दन में प्रतिफलित होती है। दोनों ही स्थितियों में सूक्ष्म अथच गहरी मानसिक भाव-वृत्तियों का वे कम संकेत दे पाते हैं। उनके नायक-नायिकाओं का व्यक्तित्व मूक आनन्द एवं वेदना की गहराइयों से प्रायः अपरिचित रहता है। इस दृष्टि से, अपनी श्रेष्ठतम रचनाओं में, देव और बिहारी का अन्तर स्पष्ट है :—

"देवजू" देखिये दौरि दशा
ब्रज-पौरि बिथा की कथा बिथुरी है,
हेम की बेलि भई हिम-रासि,
घरीक में घाम सों जाति घुरी है।

अथवा,

कोमल कूकि कै कैलिया कूर करेजनि की किरचैं करती क्यों?
(देव)

और,

> कर के मीड़े कुसुम लौं गई विरह कुंभिलाय,
> सदा समीपिन सखिन हूँ नीठि पिछानी जाय।
> (बिहारी)

देव और बिहारी के उक्त पद्यों का अन्तर तीव्रता और गहराई का अन्त है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने विरह-वेदना की तीव्रता का ही वर्ण किया है। "साकेत" में उर्मिला का वर्णन भी प्रायः वैसा ही है कालिदास के विरह-वर्णनों में आपको गहराई मिलेगी, "नैषध" में दमयन्त का विरह वर्णन व्यथा की तीव्रता का वर्णन है। सामान्यतः रोमांटिक काव्य में व्यक्तित्व का अल्पकालिक आलोडन करनेवाली तीव्रता ही रहती है, गहरी सम्वेदना क्लासिक कोटि के काव्य का लक्षण है। "उत्तरचरित" के सीता और राम का प्रेम नितान्त गहरा प्रेम है। हमें भय है कि "मानस" में राम का विरह-वर्णन भी तीव्रता के धरातल पर ही निष्पन्न हुआ है, उसमें श्रेष्ठ महाकाव्योचित गहराई नहीं है। प्रेम या विरह जब लम्बे साहचर्य की स्मृतियों से जटिल होता है तभी उसमें गहराई आती है। सूर-वर्णित गोपिकाओं के विरह में तड़पन अथवा तीव्रता ही नहीं गहराई भी है। जो वेदना दीर्घ काल-व्यापिनी होने का आभास देती है—जैसे बिहारी के उद्धृत दोहों में—उसी में गहराई की अनुभूति होती है।

श्रेष्ठ कलाकार की कृतियों में क्रमशः तीव्रता से गहराई की दिशा में विकास होता है; श्रेष्ठ आलोचक की दृष्टि में भी क्रमशः आवेगात्मक तीव्रता का पक्षपात सम्वेदनात्मक गहराई की माँग में परिणत होता जाता है।

(मई, १९५०)

३—साहित्य में प्रगति

(१)

जीवन में और एक महनीय कलाकृति में प्रत्येक व्यक्ति उतना ही देख पाता है जितना देखने की क्षमता उसने सम्पादित की है। प्रत्येक युग का महान् कलाकार प्रायः जीवन को अपने युग की सभी प्रचलित दृष्टियों से देख लेता है। भले ही कलाकार अपने युग के समस्त प्रश्नों के बौद्धिक रूप से परिचित न हो, वह उन प्रश्नों या शंकाओं के रागात्मक पहलू से अवश्य ही परिचित रहता है।

(२)

इतनी आँखों और इतने मस्तिष्कों की सृष्टि व्यर्थ नहीं है। विश्व-जीवन और मानव-जीवन इतने जटिल हैं कि उन्हें देखने-समझने के लिये मानवता के अशेष चक्षु एवं मस्तिष्क भी पर्याप्त नहीं हैं। तभी तो प्रत्येक युग के महान् चिन्तक समस्याओं की जटिलता के सम्मुख असहाय महसूस करते हैं। इसीलिये मानना चाहिए कि सब प्रकार के सांस्कृतिक प्रयत्न, जीवन और जगत की चिंतनात्मक एवं कलात्मक व्याख्या अथवा विवृति की चेष्टाएं, सहयोग-मूलक प्रयत्न हैं।[1] इसलिये भी किसी विचारक या कलाकार को अपनी कृति में अभिनिवेश नहीं होना चाहिए। हमारा लक्ष्य है जीवन और जगत के स्वरूप को हृदयंगम करना; किसी विशेष व्यक्ति का महत्वस्थापन मानवता के सांस्कृतिक विकास का साक्षात् प्रयोजन नहीं है।

फिर भी हम महनीय कृतियों, विचारकों एवं कलाकारों का कीर्तिस्थापन करते हैं सो केवल कृतज्ञता ज्ञापन के लिये नहीं; इस समीक्षात्मक क्रिया द्वारा ही हम मानव चेतना और संवेदना के विकास को आगे बढ़ा सकते हैं।

(३)

महान् लेखकों के विश्लेषणात्मक अध्ययन द्वारा आलोचक अपने धरातल को ऊँचा करता है। आलोच्य लेखक या कृति का धरातल स्वतः समीक्षक के धरातल को निर्धारित कर देता है। किन्तु साधारण कृति के साधारणत्व का विश्लेषण ऊँचे से-ऊँचे धरातल पर किया जा सकता है।

---

[1] श्रेष्ठ लेखक-विचारक अतीत दृष्टियों को आत्मसात् कर मानवता के बोध को आगे बढ़ाता है।

साधारण कृति की साधारणता हम तब तक नहीं देखते जब तक महत्तर लेखकों से सम्पर्कित नहीं होते।

(४)

यदि हमारे सामने आज वही जीवन होता जो वाल्मीकि अथवा कालिदास के सामने था तो हमारे युग का श्रेष्ठ साहित्य उनकी कृतियों की प्रतिध्वनि मात्र होता। यही बात तब और अब के विज्ञान और दर्शन पर भी लागू है। इससे साफ़ निष्कर्ष यह निकलता है कि तब की अपेक्षा में आज के जीवन एवं जगत का चित्र, हमारी दृष्टि में, बदल गया है।

(५)

इस बदलने का क्या मतलब है? विज्ञान ने हमारे परिवेश को बदल दिया है सही, किन्तु यह गौण बात है। इससे अधिक महत्व की बात यह है कि, बदले हुए भौतिक परिवेश में, आज हमारे आर्थिक-राजनैतिक (सामाजिक) सम्बन्ध बहुत अधिक बदल गये हैं। इन दोनों से भी अधिक महत्व का एक तीसरा परिवर्तन हुआ है। उन्हीं पुरानी वस्तुओं और सम्बन्धों में हम तब की अपेक्षा कहीं अधिक जटिलता और (भिन्न प्रकार की) सार्थकता देखने लगे हैं।

(६)

एबरक्रॉम्बी ने कहीं कहा है कि भाषा की भाँति साहित्य का विकास भी समन्वय से विश्लेषण की ओर, वस्तुओं की संश्लेषणात्मक चेतना से विश्लेषणात्मक चेतना की दिशा में होता है।

[इसका अभिप्राय यह भी है कि साहित्य का विकास स्थूल रस-चेतना से अलंकार-चेतना की ओर, अथवा स्थूल आवेगानुभूति से सूक्ष्म भाव-संवेदनाओं की दिशा में, होता है। जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है, साहित्य का विकास स्थूल जीव-प्रकृति के स्तर से सूक्ष्म नैतिक-मनोवैज्ञानिक स्तरों पर होता है।]

(७)

मनुष्येतर चेतन प्राणधारियों में विकास का अर्थ अधिक उपयोगी तथा सक्षम अवयवों अथवा इन्द्रियों का गठित होना होता है; इसके विपरीत मनुष्य का विकास मुख्यतः उसके अन्तर्जगत (दृष्टि एवं विचारों) के विस्तार या प्रसार द्वारा निष्पन्न होता है। आज हम कालिदास के युग की अपेक्षा अधिक विकसित हैं इसका मतलब यह है कि हम जहाँ, कालिदास की सहायता से ही, उन सब चीज़ों को देखते हैं जिन्हें कालिदास ने देखा था, वहाँ हम बहुत-सी दूसरी चीज़ों को भी देखते हैं जो उस युग में अज्ञात थीं।

[एक बात और है। अपने विशेष युग की कृतियों को कालिदास ने

जितने रस और तल्लीनता से देखा था वैसे हम आज नहीं देख सकते। कारण यह है कि वे उसके युग की विशिष्ट छवियाँ थीं और उस युग के सुख-दुख से विशेष रूप में सम्बद्ध थीं। उस युग के सुख-दुख, मनापमान, व्यक्तित्व की उच्चाशयता या लघुता आदि के स्रोतों अथवा उपादानों पर तब के कलाकारों की गहरी दृष्टि पड़ना स्वाभाविक था। आज उन स्रोतों एवं उपादानों में बहुत-से हमारे लिये कल्पित उपभोग के विषय अथवा सम्भावना मात्र रह गये हैं। दूसरे युगों की विशिष्ट छवियों को लेकर— हम इस बात पर गौरव देना चाहते हैं—आज हम उतना श्रेष्ठ काव्य प्रस्तुत नहीं कर सकते। इसीलिये श्रेष्ठ साहित्य की पुनरावृत्ति सम्भव नहीं है। अतएव आज के राम या कृष्ण-संबंधी काव्य के लेखक को, विवश होकर, दूसरी छवियों का आकलन करना होगा। अन्यथा वह काव्य हमारे युग में आदृत न हो सकेगा।]

यहाँ प्रश्न उठता है—फिर हम आज कालिदास में क्यों रस लेते हैं? और क्यों हम उसकी सराहना करते हैं? उत्तर है, दो कारणों से। (१) कालिदास के काव्य की सामग्री जीवन से ली गई थी, उसके उपादानभूत तत्वों से हम आज भी परिचित हैं यद्यपि वे उपादान आज भिन्न सन्दर्भों में ग्रथित पाये जाते हैं। कल्पनात्मक सहानुभूति द्वारा हम अपने को उस युग के जीवन-सन्दर्भों में प्रतिष्ठित कर सकते हैं। यह कल्पनात्मक तादात्म्य सब प्रकार के साहित्य का रस लेने के लिये अपेक्षित है।

(२) अपने युग के जीवन-संदर्भों को कालिदास जितने गहरे ममत्व से देख सका था उतने ममत्व से हम आज नहीं देख सकते। अतः आज का कवि, उन्हीं उपादानों की सहायता से, आज उतना मार्मिक काव्य नहीं लिख सकता। अपनी मार्मिकता और सचाई के कारण कालिदास का काव्य हमें आज भी प्रिय लगता है। . . .

'रत्नाकर' का 'उद्धव शतक' हमारे विशिष्ट युग-जीवन के उपादानों से निर्मित न होने पर भी अच्छा लगता है, क्यों? यह काव्य उन्हीं को अच्छा लगेगा, जो सूर आदि के प्राचीन काव्य से सुपरिचित हैं। दूसरे पाठकों—जैसे टी० एस० इलियट को—वह उतना प्रिय नहीं लगेगा। रत्नाकर ऐसा काव्य लिख सके क्योंकि वे वस्तुतः अपने युग के नहीं, सूर आदि के द्वारा निर्मित उस युग के निवासी थे जिसमें कृष्ण क्रीड़ा करते थे।

(८)

एबरक्रौम्बी के साहित्यिक प्रगति सम्बन्धी मन्तव्य का क्रांतिकारी निष्कर्ष यह है कि यह प्रगति मुख्यतः साहित्य के बोध-पक्ष में घटित होती है। शायद कुछ ऐसी ही प्रगति काव्य के शरीर में भी होती है—नवीन छन्दों

में गुरुतर गर्जनों एवं लय की चेतना मिलनी चाहिये। सम्भवतः संगीत कला में भी वैसी ही प्रगति हो रही होगी।

यहाँ याद रखना चाहिए कि उचित तुलना करने के लिये हमें प्राचीन तथा आधुनिक संस्कृतियों की उत्तम कलात्मक अभिव्यक्तियों की तुलना देखना। ऐसा न हो कि हम कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तल" की तुलना भारतेन्दु के "सत्य हरिश्चन्द्र" से करने लगें।

(६)

वस्तुतः मनुष्य की सांस्कृतिक प्रगति का इतिहास मुख्यतः उसकी बोध-चेतना के विस्तार का इतिहास है। जिस वस्तु में हमें कल तक चार अवयव दिखाई देते थे उसमें आज हमें दस, बीस या सौ खण्ड या पहलू दीखने लगे हैं; फलतः उन अवयवों या पहलुओं के पारस्परिक सम्बन्धों की संख्या भी बढ़ गई है। चिन्तन के क्षेत्र में जिस प्रश्न के कल तक दो ही समाधान हो सकते थे, आज कहीं अधिक वैकल्पिक समाधान दीखने लगे हैं। अतीत युगों में हमें ईश्वर और आत्मा सम्बन्धी प्रश्न महत्वपूर्ण जान पड़ते थे, आज हम पद और पदार्थ, वाक्य और वाक्यार्थ, भाषा और दार्शनिक चिन्तन, दार्शनिक प्रश्नों की सार्थकता, भाषा और वस्तु-तत्व का सम्बन्ध आदि प्रश्नों से अधिक उलझने लगे हैं। यह नहीं कि आज का मनुष्य महाकाय नक्षत्रों एवं आलोक जैसे वेगशील तत्वों के सम्बन्ध में परीक्षण और चिन्तन नहीं करता, किन्तु आज, अणु-वीक्षण की सहायता से, वह परमाणुओं को भी तोड़-फोड़ कर देखने का प्रयत्न कर रहा है। स्वयं चिन्तन-पद्धति के बारे में इतना निर्मम चिन्तन कभी नहीं हुआ जैसा कि आज हो रहा है।

साहित्य के क्षेत्र में, इलियट आदि ने घोषणा की है कि 'मिल्टन' महा कवि नहीं है (क्यों कि वह सूक्ष्मदर्शी और सूक्ष्म-सही व्यंजना-समर्थ नहीं है) और 'पोप' एवं 'डॉन' श्रेष्ठ कवि हैं। आज का उपन्यासकार मनोविज्ञान की जटिल गहराइयों में जितना पैठता है उसका दसवाँ हिस्सा भी प्राचीन साहित्य में नहीं मिलेगा। साथ ही समग्र परम्परागत विश्वासों के उच्छिन्न हो जाने के कारण आज का साहित्यकार केवल कर्तव्य और प्रवृत्ति के द्वन्द्व का ही चित्रण नहीं करता— वह यह मौलिक प्रश्न भी उठाता है कि क्या कर्तव्य और अकर्तव्य का, पाप और पुण्य का भेद आत्यंतिक है?

संक्षेप में, दर्शन के परम्परागत प्रश्न आज दर्शन और नीति के ग्रन्थों तक सीमित न रहकर, वल्कि वहाँ से पलायन करके, साहित्य के क्रोड़ में आश्रय ले रहे हैं। इसी प्रकार आर्थिक एवं राजनीतिक द्वन्द्व भी साहित्य में व्यक्त होने लगा है। आज साहित्य सच्चे अर्थ में सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति बनता जा रहा है।

अतएव आज के साहित्यकार को गम्भीर अर्थ में बहुश्रुत होना चाहिए। साहित्यिक शैली में आज हम जिस चीज की विशेष माँग करते हैं वह है स्पष्टता और सहजता, सरलता और यथार्थानुगामिता। आज किसी प्रकार के शब्दाडम्बर और हल्की कोटि के चौंकाने वाले वैचित्र्य के लिये अवकाश नहीं, आज न हम श्लेष का सहन कर सकते हैं, न आडम्बरपूर्ण अनुप्रासों का। हमें बहुत-से विशेषणों का प्रयोग भी प्रिय नहीं, और अतिशयोक्ति या अति-रंजना भी स्पृहणीय नहीं रह गई है। आज हम चाहते हैं कि कलाकार सीधे-सादे ढंग से हमें जीवन की दुर्बोध जटिलताओं से परिचित करा दे। एक चीज के लिये आज भी विशेष अवकाश है—व्यंग्य के लिये क्योंकि सब युगों की भाँति आज भी मानवता के व्यवहार में दम्भ की कमी नहीं है।

आज स्वयं वास्तविकता इतनी जटिल और विस्तृत हो गई है कि हमें भावुक रोमान्टिक लेखकों के मधुर-कोमल उद्गारों के सुनने का समय नहीं रह गया है। ऐसे लेखक या कवि वयःसन्धिप्राप्त तरुण पाठक-पाठिकाओं को ही कुछ दिनों तक प्रिय लगते रह सकते हैं।

(मई, १९५०)

४—अलंकार और ध्वनि

प्रत्येक क्षेत्र में श्रेष्ठ विचारक कम-से-कम सिद्धान्त-सूत्रों का प्रतिपादन करता है। इस दृष्टि से काव्य-सौन्दर्य की व्याख्या करते हुये विभिन्न अलंकारों का नाम लेना सब से स्थूल सिद्धान्त है।* अलंकार-निरूपण की चेष्टायें यह सिद्ध करती हैं कि अलंकार-प्रेमी साहित्य-मीमांसकों में सैद्धान्तिक चिन्तन की क्षमता बहुत ही कम थी। काव्यगत सौंदर्य की व्याख्या करने के लिये एक या दो सिद्धान्त-सूत्रों का कथन करने के बदले इन निठल्ले विचारकों ने सैकड़ों अलंकारों के नाम गिना डाले हैं! चिन्तन-शक्ति के दिवालियेपन का इससे अच्छा उदाहरण विचारों के किसी दूसरे क्षेत्र में शायद ही मिल सके।

किसी पद्य में उपमा या कोई दूसरा अलंकार है इससे उस पद्य के सौंदर्य के बारे में विशेष जानकारी नहीं होती, उपमा बहुत ही उपयुक्त हो सकती है, और कम उपयुक्त या भोंडी भी—कवि केशव ने कहीं रक्तिम सूर्य को कापालिक की खोपड़ी से उपमा दी है। दूसरे, विभिन्न अलंकारों को कम या अधिक सौंदर्य-सृष्टि के उपकरणों के रूप में एक तारतम्य-मूलक क्रम में नहीं रखा जा सकता, यह नहीं कहा जा सकता कि उपमा से उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि आवश्यक रूप में कम या अधिक सौन्दर्य-विधायक हैं।

हमने पीछे कहीं संकेत किया है कि अलंकारों के मुख्यतः दो कार्य हैं। प्रथमतः अलंकार साम्य-वैषम्य से विधान द्वारा वस्तु-चित्र को विशद बनाते हुए बोध या चेतना के विकास में सहायक होते हैं। दूसरी कोटि के अलंकार वक्ता की प्रतिभा अथवा उक्ति-चातुर्य को प्रतिफलित करते हैं। इस प्रकार के अलंकारों के मूल में किसी-न-किसी प्रकार की वक्रता, विदग्धता अथवा अन्य प्रकार की चतुराई रहती है। चातुर्य या वक्रता-मूलक अलंकार चमत्कार के विधायक होते हैं। यमक, श्लेष आदि शब्दालंकार रचयिता के शब्द-प्रयोग-विषयक चातुर्य को प्रकट करते हैं। कालिदास के 'उद्बाहुरिव वामनः', 'दीपशिखा-सी इन्दुमती' 'अनाघ्रात कुसुम-सी शकुन्तला' आदि व्यंजनाओं में प्रथम कोटि के अलंकार हैं। ये अलंकार रसानुभूति को सघन करते हैं। इसके विपरीत चमत्कार-मूलक अलंकार गहरी रस-संवेदना से कम सम्पृक्त होते हैं।

पीछे हम चमत्कार का विश्लेषण कर चुके हैं। यह चीज़ अलंकारों के प्रयोग पर ही निर्भर नहीं है। जिन्हें लोक में विदग्ध या हाज़िरजवाब कहा जाता है वे विशिष्ट परिस्थिति में ऐसी बात कहते हैं जो प्रतिभा या चतुराई की द्योतक हो। फलतः उनकी बातें चमत्कार की सृष्टि करती हैं। बीरबल के चुटकुले इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

औरंगजेब की पुत्री राजकुमारी ज़ेबुन्निसा ने एक पद्य लिखा है—

अज़हैबते शाहेजहाँ लरज़द ज़मीनो आसमाँ
अगुंश्ते हैरत दर दिहाँ, नीमे दरूँ, नीमे बरूँ।

अर्थात् सम्राट् शाहजहाँ के भय से पृथ्वी और आकाश काँपते हैं; आश्चर्य से अँगूठा मुँह में है, आधा भीतर और आधा बाहर।

यह पद्य अच्छा है लेकिन, शायद, कोई खास चमत्कारपूर्ण नहीं। राजाओं के वर्णन में पुराने कवि इससे कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी बातें कहते आये हैं। अब हम आपको एक कहानी सुनाते हैं।

एक दिन ज़ेबुन्निसा और उसकी कुछ सखियाँ बाग़ में खेल रही थीं। बाग़ की दीवार में एक छेद था। एक सखी ने उस छेद में एक लकड़ी डाल दी जिसका कुछ भाग अन्दर पहुँच गया और कुछ बाहर रहा। लड़कियों ने कहना शुरू किया, नीमे दरूं नीमे बरूं (आधी अन्दर और आधी बाहर)। और यह कह-कह कर वे हंस रही थीं। वे अपने खेल में मग्न थीं कि इतने में सम्राट् शाहजहाँ उन्हें घूर-घूर कर देखते हुए निकट आ गये। ज़ेबुन्निसा ने दादाजान को इस तरह घूरते देखा, और वह चौंकी। शाहजहाँ की आँखें मानो प्रश्न कर रही थीं कि 'तुम सब यह क्या बक रही थीं?' ज़ेबुन्निसा ने अर्ज़ किया कि हुज़ूर हम लोग यह कह रही थीं कि:—

अज़हैबते शाहेजहाँ, इत्यादि। अर्थात्—इत्यादि।

पाठक देखेंगे कि कहानी के संदर्भ में पढ़े जाने पर उक्त पद्य का सौन्दर्य अथवा प्रभाव एकदम बढ़ जाता है, और वह नितांत चमत्कारपूर्ण जान पड़ने लगता है। बात यह है कि उक्त संदर्भ में यह पद्य कुमारी ज़ेबुन्निसा की प्रतिभा या विदग्धता का परिचायक बन जाता है।

ध्वनि-काव्य के कतिपय उदाहरण विदग्धता अथवा चमत्कार के व्यञ्जक कहे जा सकते हैं, जैसे "ध्वन्यालोक" का निम्नलिखित अवतरण:—

अत्र निमज्जति श्वश्रूरत्राहमत्र परिजनः सकलः
पथिक राश्यन्धक मा मम शयने निमंक्ष्यसि।

अर्थात् 'यहाँ मेरी सास सोती है, यहाँ मैं, और यहाँ दूसरे सब लोग; पथिक! तुम्हें रात्रि में दिखाई नहीं देता है; कहीं आकर मेरे पलंग पर न गिर

जाना।' यहां वाच्यार्थ में (जो निषेध-रूप है) कोई ऐसा तत्व नहीं है जो विधि-मूलक विपरीत अर्थ को व्यञ्जित कर सके। वैसा अर्थ नायिका की चपलता द्वारा ही ध्वनित हो सकता है। उस दशा में यह उक्ति चमत्कारपूर्ण जान पड़ेगी।

सम्भवतः ध्वनिकाव्य कभी-कभी, इस प्रकार के चमत्कार का वाहक होता है। ध्वनिवाद की सचाई का दूसरा पहलू यह है कि कतिपय अर्थों को (जो अश्लील समझे जाते हैं) घुमा-फिरा कर ही व्यक्त करना अच्छा लगता है। अश्लील का इस प्रकार संकेत करना भी चतुरता का प्रमाण है।

किन्तु तथाकथित ध्वनिवादी काव्य में एक तीसरी विशेषता भी देखी जा सकती है, अर्थात् आक्षेप (इम्प्लीकेशन) द्वारा अनुक्त अर्थों को ध्वनित करके अर्थगौरव में वृद्धि प्राप्त करना। यों भी कविता मनुष्य की सबसे संक्षिप्त वाणी है, आक्षेप-शक्ति के उपयोग द्वारा वह वाणी और भी संक्षिप्त अर्थात् अर्थगर्भा हो जाती है।

जहाँ एक उक्ति में अनेक उक्तियां, एक भावना में अनेक भवनायें, ग्रथित रहती हैं वहाँ अर्थ-गौरव के साथ भावनात्मक गहराई में भी वृद्धि होती है। जिसे अंग्रेजी में 'सैटायर' या व्यंग्य कहते हैं उसकी यही विशेषता होती है। संस्कृत साहित्यशास्त्रियों के प्रसिद्ध उदाहरण 'जीवत्यहो रावणः' में ऐसी ही भावनात्मक गहराई है।

यदि ध्वनिवाद को केवल व्यंग्यवादी (सैटिरिकल) काव्य का समर्थक सिद्धान्त न माना जाय तो उसका तात्पर्य यही हो सकता है कि ध्वनिवादी काव्य में अर्थ और भावना का गौरव या गहराई रहती है। जिस प्रकार श्रेष्ठ विचारकों के एक-एक वक्तव्य के पीछे विस्तृत विचारात्मक पृष्ठभूमि रहती है, उसी प्रकार अर्थ-गौरव-युक्त काव्य में भी। अतः हमारा विचार है कि ध्वनि तत्व का अर्थ-गौरव में अंतर्भाव हो सकता है। उस दशा में ध्वनियुक्त काव्य को श्रेष्ठ काव्य का एक मात्र रूप न कहकर एक रूप कहना ही उपयुक्त होगा।

ध्वनिवादियों ने रस को भी एक प्रकार की ध्वनि माना है, हम इससे सहमत नहीं। रस एक प्रकार का अर्थ नहीं अपितु अर्थों के अनुशीलन (कन्टेम्प्लेशन) से जागनेवाली विशेष चित्तवृत्ति है। रस को ध्वनि कथन करने के सिद्धान्त में यदि सत्य का अंश है तो यह कि कवि या कलाकार का साक्षात् काम वस्तु अर्थात् विभावों का सफल चित्रण है। इस चित्रण द्वारा ही वह पाठक में रसात्मक या रागात्मिका वृत्तियों को जगाता है। रस साक्षात् वाणी का विषय नहीं है। शुक्लजी भी इस परिस्थिति को स्वीकार करते दीखते हैं।

"हेरी मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय" जैसी पंक्तियाँ बिना अर्थ गौरव के भी श्रेष्ठतम काव्य हैं। बिहारी का 'करके मीड़े कुसुम लौं' पद्य भी वैसा ही है। किंतु इन दोनों में भी लम्बी वेदना अथवा पीड़ा का संकेत है।

अंततः व्यंग्य अर्थ अनुमित अथवा अर्थापत्ति द्वारा आक्षिप्त अर्थ ही होता है। मानवी व्यापारों में अनुमान के लिए उस प्रकार की व्याप्ति अपेक्षित नहीं होती जैसी कि भौतिक व्यापारों या सम्बन्धों की जानकारी में। परिस्थिति-विशेष में हम कल्पना द्वारा संभाव्य प्रतिक्रिया का अनुमान या आक्षेप करते हैं।

(मई-१९५०)

५—उपन्यास

१

उपन्यास का विषय मानव-जीवन और मानव-चरित्र है। जीवन में वे अशेष परिस्थितियाँ सम्मिलित हैं जो परिवेश का निर्माण करती हैं। सामाजिक माँगों के आवश्यक दबाव से मूलप्रकृति के नियमन द्वारा चरित्र बनता है। जब सामाजिक दबाव अधिकांश जनों की मूल-प्रकृति की उचित सन्तुष्टि में बाधक होता है तब समाज-व्यवस्था के परिवर्तन या क्रान्ति की आवश्यकता होती है। आधुनिक उपन्यास समाज-व्यवस्था एवं प्रकृति के सामंजस्य-असामंजस्य का उद्घाटन करता है। यह केवल मूल आवेगों का उपभोग नहीं कराता।

२

प्राणी मात्र की, और खास कर मनुष्य की, यह विशेषता है कि वह एक ही परिस्थिति-समूह में, अपनी सुविधा अथवा आदर्श के अनुसार, कई तरह की प्रतिक्रिया कर सकता है। मानव-चरित्र की दिशा और गति कभी पूर्णतया निर्धारित नहीं होती। एक ही पात्र या चरित्र के व्यापारों की, प्रायः प्रत्येक अवसर पर, अनेक सम्भावनाएं रहती हैं। इसीलिए उसके कार्यकलाप के बारे में सदैव कुछ अनिश्चय अतएव उत्सुकता (सस्पेंस) बनी रहती है। उपन्यास की रोचकता का यही मूल रहस्य है।

३

पुराने कथाकार अलौकिक शक्तियों के हस्तक्षेप तथा भाग्य अथवा संयोग तत्त्व (चांस) के विधानों द्वारा अपनी कहानियों को रोचक एवं औत्सुक्य-वर्धक बनाते थे। अलिफलैला में जगह-जगह जिन और परियाँ उतर आती हैं, और जहाँ तहाँ पात्रों को चमत्कारपूर्ण लालटेन, अंगूठी अथवा दूसरी चीजें मिल जाती हैं। अलादीन का जिन पूरे महल को उठाकर एक से दूसरे स्थान पर ले जाता है। "अलीबाबा और चालीस चोर" का नायक कुछ संकेत शब्द बोल कर जादू के दरवाजे को खोल देता है। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में भी कथा-वस्तु के कुमार-विकास एवं अलौकिक विधानों द्वारा रोचकता उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। आजकल कथाकार इन

प्रकार के किसी उपकरण को ग्रहण नहीं करता। उसके पास रोचकता उत्पन्न करने एवं उत्सुकता जगाये रखने का एक ही साधन है—मानव चरित्र की मानस-शास्त्र सम्मत किंतु विविध सम्भावनाएँ।

(४)

ये सम्भावनाएँ मानव जीवन के सब क्षेत्रों को छूती हैं; नीति-मर्यादा का क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं। एक परिस्थिति में यदि एक ही निश्चित कर्तव्य दीखता रहे तो नैतिक द्वन्द्व का प्रश्न न उठे। होता यह है कि कर्तव्य विषयक अनेक, कभी-कभी विरोधी, धारणाएं भी स्वयं जीवन की आवश्यकताओं द्वारा संकेतित होती हैं। वास्तव में आधुनिक उपन्यासकार देखता है कि नीति का कोई भी नियम निरपवाद सत्य नहीं है।

(५)

जीवन, चरित्र और परिस्थिति का द्वन्द्व है। चरित्र में दो तत्व रहते हैं, एक वासनाएं और इच्छाएं तथा दूसरा, शुभ-अशुभ सम्बन्धी धारणाएं। इच्छाओं को दबाकर आदर्श पर टिके रहना व्यक्ति की दृष्टि से बहादुरी है, परिस्थितियों द्वारा आदर्शों का परित्याग अथवा कमजोरियों से समझौता करने को बाध्य होना समाज की दृष्टि से कष्टकर है। स्वार्थियों के प्रचार या अज्ञान के वश होकर रूढ़ि को धर्म समझते हुए कष्ट उठाना बुद्धि या ज्ञान की दृष्टि से दुःखप्रद है।

(६)

किन्तु आज के उपन्यासकार की समस्या दूसरी है। प्राचीन धर्मों की दार्शनिक मान्यताओं एवं नैतिक विधि-निषेधों से उसका विश्वास उठ गया है। उसकी समस्या है—एक, अच्छाई-बुराई के भेद में आस्था उत्पन्न करना; और दूसरे, भलाई-बुराई के नये पैमानों को खोज निकालना।

अनैतिक उपन्यासकार वह नहीं है जो परम्परागत विधि-निषेधों पर प्रहार करता है; अनैतिक कथाकार वह है जो भलाई-बुराई के भेद को मात्र रूढ़ि (कन्वेन्शन) कहकर उड़ा देना चाहता है। कलाकार को दिखा सकना चाहिए कि नीति कहाँ कन्वेन्शन है, और कहाँ नहीं।

(७)

नीति का यह कोई भी नियम अनुल्लंघनीय नहीं हो सकता जिसके पालन से कुछ मनुष्यों को अनिवार्य रूप में कष्ट भोगना पड़ता है। आप मानें या न मानें, अन्ततः वह चीज जो कष्टदायक है आवश्यक धर्म नहीं हो सकती। अन्ततः धर्म वह है जो मानव व्यक्तित्व के सम्वर्धन और विकास में सहायक होता है।

(८)

सभ्यता के उपकरणों की वृद्धि के साथ मनुष्य का परिवेश और उसकी प्रतिक्रियाएँ दोनों जटिलतर होती जाती हैं। उपन्यासकार का एक काम इस जटिल परिस्थिति की चेतना जगाना है। उसका दूसरा काम, इस चेतना के आलोक में, मानव सुख-दुख की बदली हुई सम्भावनाओं का निर्देश करना है। ये सम्भावनाएँ ही स्वीकृत नीति-नियमों, अर्थात् मानवी सम्बन्धों के नियामक नियमों में, परिवर्तन की माँग करती हैं। यन्त्र-युग के लगातार बदलते हुए भौतिक परिवेश में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध वही नहीं रह सकते, अतः उनके नियामक नियम भी वही नहीं रह सकते। वर्ग-चेतना के इस युग में आज समझदार नेता मजदूरों को खुल्लमखुल्ला "नमक हलाली" के आदर्श के विरुद्ध हड़ताल करने की प्रेरणा देते हैं, और गांधीजी ने खुलकर राजविद्रोह की शिक्षा दी। विश्व के मुट्ठी भर शांतिवादी प्रायः अपनी-अपनी सरकारों द्वारा अदेशभक्त समझे और (युद्धकाल में) घोषित किये जाते हैं।

(६)

कला का मुख्य उपादान मानवता की सुख-दुख-संवेदना है। नई भौतिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में कौन कहाँ स्वयं कष्ट सह रहा है अथवा दूसरे के कष्ट का कारण बन रहा है इसे देखने-दिखलाने का काम प्रधानतया कलाकार का ही है। अतः कलाकार को यह अधिकार होना चाहिए कि वह उस किसी भी नीति-नियम के विरुद्ध, जिसकी मान्यता उन कष्टों के देखे या दूर किये जाने में बाधक होती है, सशक्त आवाज़ बुलन्द करे।

(१०)

जीवन का सुख-दुःख एक ओर मानव-व्यक्तित्व की आवश्यकताओं और दूसरी ओर परिस्थितियों की अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति से निर्धारित होता है। जीवन के नये ढंग मानव-प्रकृति के विभिन्न तत्वों पर अस्वाभाविक दबाव डालते हैं जिससे मनुष्य का कष्ट बढ़ता है। उदाहरण के लिये सभ्य देशों के विस्तृत उद्योगीकरण ने छोटे कारीगरों का काम खत्म करके मजदूरों की बड़ी सेनाओं को जन्म दिया। मज़दूरों के जीवन में 'काम' और 'सुख' के व्यापारों में घोर अंतर पड़ गया—पुराना कारीगर काम करते हुए मनोरंजन का अनुभव करता था, आज का मजदूर वस्तुओं के उत्पादन का एक यांत्रिक उपकरण बन गया है, उसे कभी कलात्मक निर्माण का सुख नहीं मिलता। फलतः वह काम के बाद ताड़ीघर या सिनेमा की ओर दौड़ता है। काम से ऊबा रहने वाला व्यक्ति अपने परिवार के सदस्यों से सहृदयतापूर्ण व्यवहार

भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार स्त्रियों की स्वतन्त्रता और समाजपरस्ती ने हमारे युवकों को पुराने ढंग के आत्म-नियन्त्रण के अयोग्य बना दिया है। प्रतियोगिता-मूलक पूँजीवादी समाज में सामाजिक गौरव की प्राप्ति एवं रक्षा के लिए (विशेषतः मध्यवर्गीय) लोगों को सह्य से अधिक परिश्रम करना पड़ता है। ये चीजें मानवी अन्तःप्रकृति के सामञ्जस्य को खण्डित करने-वाली हैं। आज के उपन्यासकार को इन परिस्थितियों का विश्लेषण करना पड़ेगा। और इसका मतलब यह है कि उसे मानव प्रकृति के उन तत्वों का संकेत करना पड़ेगा जिनका उल्लेख, परंपरागत दृष्टि से, मर्यादा-विरोधी समझा जाता रहा है।

सामान्यतः साहित्य में और विशेषतः उपन्यास में क्रमशः यथार्थ का आग्रह और उसके विश्लेषण की परिधि निरंतर बढ़ती गई है। मनुष्य की जीवन-दृष्टि से ज्यों-ज्यों अलौकिक तत्वों का बहिष्कार होता गया है त्यों-त्यों उसकी यथार्थ-विषयक जिज्ञासा बढ़ती गई है। वस्तुतः पिछली शताब्दियों में विभिन्न देश अथवा जातियाँ जिस अनुपात में वैज्ञानिक चिंतन-दृष्टि को अपनाती गई हैं उसी अनुपात में उनके साहित्य में जीवनगत यथार्थ का अंकन बढ़ता गया है। आज आप किसी देश के कथा-साहित्य को देख-कर यह ठीक अन्दाजा लगा सकते हैं कि उस देश में वैज्ञानिक यथार्थ-मूलक दृष्टि कहाँ तक विकसित हुई है। इसके विपरीत एक रूढ़िग्रस्त देश या जाति जिसने अभी वैज्ञानिक ढंग से देखना और सोचना नहीं सीखा है अपने कला-कारों को यथार्थ का अन्तरंग चित्रण करने से विरत करेगी। आज हम प्रेमचन्द की आदर्शवादिता को लेकर उन्हें बुरा-भला कहते हैं, लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि उस समय का भारतीय समाज उससे अधिक यथार्थवाद को जितना कि प्रेमचन्द में पाया जाता है पचा नहीं सकता था। आज भी हमारे देश में दास्तारव्की तथा टामसमैन जैसे कलाकार पैदा नहीं हो रहे हैं इसका प्रमुख कारण यह है कि हम अभी तक यथार्थ के उतने गहरे सम्पर्क के अभ्यस्त नहीं बने हैं। हमारी दृष्टि की गठन में अभी तक स्वप्नदर्शिता (जिसे अकर्मण्य जाति के सदस्य आदर्शवादिता कहते हैं) अधिक है, वैज्ञानिकता कम। हमारे यहाँ विविध वैज्ञानिक विचारकों की भी बहुत कमी है जो चारों ओर से कलाकार की यथार्थ-दृष्टि को समृद्ध कर सकें।

(१२)

कल्पना की हवाई सृष्टि से भिन्न जीवन-प्रसूत आदर्श हम उस व्यवस्था, अर्थात् मानव-प्रकृति एवं भौतिक परिस्थितियों की उस या उन सम्भावनाओं को, कहेंगे जिनमें नवीन युग की उन शक्तियों पर पूर्ण नियन्त्रण कर लिया

गया हो जो मानव-व्यक्तित्व के सम्वर्द्धन और विकास में बाधक हो रही है। आदर्श व्यवस्था में परिवेशगत शक्तियों का संगठन इस प्रकार किया जायगा कि वे मानव-प्रकृति की मौलिक आवश्यकताओं की अतृप्ति का हेतु न रह सकें। ऐसे आदर्श की कल्पना ही किसी जाति या राष्ट्र को आगे बढ़ा सकती है। वास्तविक आदर्श वह है जिस तक पहुँचने का मार्ग, दुरूह होते हुए भी, रुद्ध न दिखाई पड़े। मनुष्य की यथार्थ मूलक कल्पना (अर्थात् वह कल्पना जो वास्तविकता के बोध से प्रेरणा लेती है) जिस आदर्श तक पहुँचने का मार्ग नहीं देख पाती उस आदर्श का परिकल्पन अलसप्राणता अथवा पलायन-प्रवृत्ति का द्योतक है। बालकों के परियों के लोक में पहुँचने की अभिलाषा के समान इस प्रकार की आदर्श-कल्पना का कोई ठोस महत्व नहीं है।

(१३)

अल्प-विकसित एवं कमजोर मस्तिष्क के व्यक्ति या जातियाँ यथार्थ के निकट निश्चय से घबड़ाती हैं। प्रौढ़ एवं सबल मस्तिष्क के व्यक्ति और जाति मन-ही-मन उसकी उपयोगिता को समझते एवं स्वीकार करते हैं। कालिदास के कतिपय वर्णनों को लेकर जो नाक-भौं सिकोड़ते हैं उन्हें याद रखना चाहिए कि उक्त कवि एक जीवित और सशक्त जाति के स्वर्ण-युग का प्रतिनिधि है।

(१४)

हमारी नैतिक दृढ़ता यथार्थ को उसकी समग्रता में देखने के साहस में है। प्रकृति का यथार्थ कभी अशुभ नहीं होता, भले ही किसी दूसरी चीज की तुलना में वह कम शुभ हो।

भलाई-बुराई का सम्बन्ध मनुष्य के उन संकल्पों और कामों से है जिनका दूसरों के सुख दुःख पर प्रभाव पड़ता है।

(१५)

उपन्यास के आलोचक को देखना चाहिए कि, प्रथमतः, उपन्यासकार का जीवन के विस्तार और गहराइयों से कितना घनिष्ठ परिचय है—जीवन के कितने भीतर घुस कर वह [illegible] वास्तविकताओं का आकलन करता है; और दूसरे, उसकी कल्पना कितनी सशक्त अर्थात् [illegible] वास्तविकताओं का ग्रहण करती है। तीसरे, वह देखे कि उपन्यासकार कहाँ तक युग के सुख-दुःख और उसके हेतुओं को पकड़ सका है।

(मई, १९५०)

६—प्रतिभा और पाण्डित्य

(१)

दो प्रकार के लेखक होते हैं, एक वे जो अपनी बात कहते हैं; और दूसरे वे जो औरों की कही बात का निश्चय, अनुवाद या व्याख्या, मूल्यांकन या प्रचार करते हैं। पहली कोटि के लेखक प्रायः प्रतिभाशाली कहे जाते हैं और दूसरी कोटि के, पंडित। स्पष्ट ही यह भेद आत्यन्तिक नहीं है।

(२)

पण्डित लेखक प्रतिभाशालियों के सबसे बड़े मित्र भी होते हैं, और शत्रु भी। प्रायः वे उन प्रतिभाशालियों के मित्र होते हैं जो प्रतिष्ठित हो चुके हैं, जिनकी महत्ता अब प्रश्न से परे, सर्वस्वीकृत-सी हो चली है। फलतः पण्डित-समालोचक प्रायः समकालीन युग से कुछ पिछड़ी हुई मनोवृत्ति के होते हैं—उन्हें उन लेखकों अथवा कलाकारों के दृष्टिकोण से सहानुभूति होती है जिन्होंने पन्द्रह-बीस वर्ष पहले लिखना शुरू किया था और इस लम्बे अर्से में संघर्ष करके मान्यता प्राप्त कर ली है। सम्मानित लेखकों के सम्बन्ध में लिखकर ये पण्डित-आलोचक भी प्रसिद्ध हो जाते हैं। प्रायः वे नया दृष्टिकोण लेकर आनेवाले नये लेखकों को प्रोत्साहित नहीं करते—बल्कि उनके बढ़ने में रुकावट डालते हैं। प्रतिभा और पाण्डित्य का यही चिरन्तन संघर्ष है।

(३)

पण्डित वर्ग के लेखकों के बीच भी, स्वभावतः, कम और अधिक प्रतिभाशाली लोग रहते हैं। प्रतिभा की एक विशेषता है—प्रतिभा को पहचानने की क्षमता। अन्ततः प्रतिभाशाली आलोचक ही नयी प्रतिभाओं को पहचानते और प्रतिष्ठित करते हैं। यदि पिछले खेवे की प्रतिभाओं से सहानुभूति रखनेवाले पण्डित लेखकों में अभीष्ट उदारता या दृष्टि-विकास न हो सका, तो नयी पीढ़ी के युवकों में से विवेकशील आलोचक पैदा होकर नयी प्रतिभा का स्वागत करते हैं।

(४)

पाण्डित्य द्वारा किया हुआ (नवीन) प्रतिभा का विरोध निराधार ही नहीं होता। प्रायः प्रतिभाशाली व्यक्ति नयी दृष्टि को मनवाने की झोंक में

विगत युग की प्रतिमाओं के महत्व को देखने से इनकार करता है। स्व[illegible]
उसका समसामयिक पण्डितों द्वारा विरोध होता है। उन्हें नयी प्रति[illegible]
श्रद्धा एवं संतुलन की कमी दीखती है; वे उसे "नौसिखिया" कहकर
उपेक्षा करते हैं।

(५)

प्रतिभा पण्डितों को तब मान्य होती है जब वह प्राचीन सौंद[illegible]
दृष्टियों को आत्मसात् करके अपनी रोमांटिक प्रगल्भता को क्लासिक गरि[illegible]
में विकसित कर लेती है।

विकास की इस भूमिका में पहुँचकर स्वयं प्रतिभाशाली प्राचीन प्रति[illegible]
का जितना आदर कर सकता है उतना पण्डित-आलोचक नहीं। बात[illegible]
है कि महती प्रतिभा का विश्लेषण स्वयं बड़ी प्रतिभा की अपेक्षा करता है।

(६)

यदि आलोचक और आलोच्य लेखकों की प्रतिभा में बहुत अन्त[illegible]
तो आलोचक कभी आलोच्य कलाकार का सफल विश्लेषण नहीं [illegible]
सकेगा। प्रशंसा करने की इच्छा रहते हुए भी वह आलोच्य लेखक की म[illegible]
के उपादानों को नहीं पकड़ सकेगा।

(७)

प्रतिभा-शून्य आलोचक की प्रशंसा और प्रताड़ना दोनों ही प्रभविष्णु नहीं
पातीं। प्रायः वह लेखक या कृति-विशेष की शक्ति एवं दुर्बलता दोनों ही को ठ[illegible]
से नहीं पकड़ पाता। इसके बदले वह सस्ती निन्दास्तुति का प्रयोग करता है।

(८)

वह कलाकार भाग्यशाली है जिसे समर्थ आलोचक की प्रशंसा-दृष्टि मिले[illegible]
वह जाति भाग्यशाली है जिसके समर्थ आलोचक भाषा के लेखकों की
कृतियों के असाधारण माने जाने में बाधक होते हैं।

(९)

प्रतिभाशाली में ईर्ष्या नहीं होती, क्योंकि उसे अपनी क्षमता में विश्वा[illegible]
होता है। महानतीय की प्रशंसा करने में उसे कभी संकोच नहीं होता। [illegible]
लेखक धन्य हैं जिनकी प्रतिभा पर प्रतिभाशालियों की दृष्टि रहे।

(१०)

प्रायः ओछी प्रतिभा राग-द्वेष के स्तर विकारों में पड़ी होती है। फलतः [illegible]
ही अपने अन्य भी अपनी प्रतिष्ठा के लिये प्रतिभा पर निर्भर करता है।

(११)

.. जब प्रतिभाशाली लेखक और प्रतिभाशाली को नहीं पहचान सके, [illegible]

अर्थात् इस तरह बज़्म को ग़ैर से ख़ाली करा देना चाहिए ! निर्दयी ने मुझे ही ग़ैर क़रार दे दिया ।]

उर्दू काव्य में प्रायः प्रेमपात्र प्रेमी को छकाता या तंग करता है। ऐसे अवसर कम होते हैं जब प्रेमी प्रेमास्पद की उलझन या परेशानी से प्रसन्न हो—

आशिक़ हैं आप भी इक और शख़्स पर
आख़िर सितम की कुछ तो मकाफ़ात चाहिए !

[अब महाशय स्वयं किसी पर मोहित हो गये हैं। आख़िर अन्याय का कुछ तो प्रतिकार होना चाहिए। मतलब यह कि अब तक वह प्रेमियों को तंग करते रहे हैं, अब उनके तंग किये जाने की बारी है।]

किन्तु वैसे प्रेमी प्रतिभा-शून्य नहीं होता। प्रेमास्पद से मिलने या उसके दरवाज़े पर धरना देने के वह अनेक उपाय निकालता है और उपदेशक मौलवी (नासह) को भी जो पवित्रता का ढोंग करता है (ज़ाहिद, पारसा) ख़ूब खरी-खोटी सुनाता और बेवक़ूफ़ बनाता है। अपनी प्रेम-जन्य आवारगी और कष्ट को दूर करने का प्रयत्न करनेवाले सम्बन्धियों तथा हकीमों की कोशिशों की व्यर्थता की कल्पना भी उसे आनन्द देती है।

सीखे हैं महरुख़ों के लिये हम मुसव्वरी
तरक़ीब कुछ तो बहरे मुलाक़ात चाहिए।

[चन्द्रमुखियों के लिये हमने चित्रकारी सीख ली है; भेंट करने का कोई तो बहाना होना चाहिए !]

दे वह जिस क़दर ज़िल्लत हम हँसी में टालेंगे
बारे आशना निकला उनका पासबाँ अपना।

[प्रेमपात्र के दरवाजे पर द्वार-रक्षक नियुक्त है जो आनेवाले (प्रेमी) को डाँट-फटकार देता है। प्रेमी महोदय फर्माते हैं कि अब हमें इसकी चिन्ता नहीं। संयोग से उनका दरवान हमारा बचपन का दोस्त निकल पड़ा—अब जो वह हमें भली-बुरी कहेगा तो हम हँसी में टाल देंगे, यह प्रकट करते हुए यह तो हमारा पुराना दोस्त है और हम लोगों में ऐसा ही बेतकल्लुफ़ी का बर्ताव रहता चला आया है !]

हज़रते नासह गर आयें दीद-ओ दिल-फ़र्शे राह
कोई मुझ को यह तो समझा दो कि समझाएँगे क्या ?

[मौलवी साहब आएँ, बड़ी ख़ुशी की बात है; मैं अपना दिल और आँखें उनकी राह में बिछाने को तैयार हूँ। लेकिन कोई मुझे यह तो समझा दे कि वे आकर करेंगे क्या—मुझे क्या समझाएँगे !]

नासहा अपने तू इतना तो समझ ले दिल में
लाख नादाँ हुए क्या तुम से भी नादाँ होंगे !

[मौलवी साहब तुम अपने दिल में इतनी बात समझ लो—हम कित
हीं नादान (अपना भला-बुरा सोचने में अक्षम) क्यों न हों, पर तुम
ज्यादा नादान नहीं हैं। (मतलब यह है कि तुम इतने बुद्धू हो कि प्रेम
और शराब जैसी वस्तुओं की अभिलाषा तक नहीं करते, और अपने को
अक्लमन्द समझ कर आते हो उपदेश करने !]

प्रेमी को इस बात का गर्व होता है कि उसका प्रेम-रोग ला इलाज है—

दोस्त गमख्वारी में मेरी सई फ़रमाएँगे क्या
ज़ख्म के भरने तलक नाखुन न बढ़ आएँगे क्या ?
गर किया नासह ने हम को क़ैद अच्छा यूँ सही
यह जनूने इश्क़ के अन्दाज छुट जायँगे क्या !

[मित्र गण मेरे कष्टों का इलाज करना चाहते हैं, लेकिन—क्या उनकी कोशिशें सफल होंगी ? जब तक घाव भरेगा तब तक क्या नाखून नहीं बढ़ जायँगे ? (मतलब यह है कि प्रेमी नाखूनों से खोद-खोद कर फिर घाव पैदा कर लेगा !]

मान लिया कि नासह (उपदेशक मौलवी) ने हमें कैद कर लिया, लेकिन क्या इससे जनूने इश्क़ (प्रेमोन्माद में सिर पटकना, कपड़े फाड़ना आदि) सचमुच कम हो जायगा ! भला जनूने इश्क पर कोई प्रतिबन्ध लगा सकता है !]

नासह-सम्बन्धी दूसरे शेर को छोड़ कर ऊपर के सब उद्धरण ग़ालिब के के दीवान से लिये गये हैं, किन्तु वे उर्दू काव्य की सामान्य चेतना (स्पिरिट) के व्यंजक करते हैं। गालिब एक बौद्धिक कलाकार के रूप में प्रसिद्ध है। उसके काव्य की प्रमुख विशेषता यह है कि वह प्रायः प्रत्येक अभिव्यक्त भावना की पुष्टि या समर्थन में एक अनूठी युक्ति दे देता है, अथवा एक वक्तव्य से अनूठा निष्कर्ष निकाल लेता है। ग़ालिब के द्विपदों की दो पंक्तियों में प्रायः ऐसा ही कोई बौद्धिक या आक्षेप-मूलक (इम्लीकेटोरी) सम्बन्ध रहता है जो कि पाठक को चमत्कृत करता है।

बन्दगी में भी वह आज़ाद-ओ खुदबीं हैं कि हम
उलटे फिर आये दरे काबः अगर वा न हुआ।

[ईश्वरोपासना के मामले में भी हम इतने आज़ाद-तबीयत और मानी हैं कि यदि काबे (उपासना-भवन) का द्वार खुला न हुआ तो वापिस चले आते हैं। (यह न समझ कि हर शर्त पर हम तुझे प्यार करते रहने को तैयार

रहेंगे।) यहाँ उत्तरार्ध में पूर्व पंक्ति में कथित गर्व-भावना का ज़ोरदार समर्थन है।]

अन्य उदाहरण हम बिना अनुवाद के देते हैं:—†

(१) तेरी नाज़ुकी से जाना कि बँधा था अह्द बोदा
कभी तू न तोड़ सकता अगर उस्तवार होता।

(२) कोई मेरे दिल से पूछे तेरे तीरे नीमकश को
यह ख़लिश कहाँ से होती जो जिगर के पार होता।

(३) उसे कौन देख सकता कि यगाना है वह यकता
जो दुई की बू भी होती तो कहीं दो-चार होता।

(४) ले तो लूँ सोते में उसके पाँव का बोसा मगर
ऐसी बातों से वह काफ़िर बद गुमाँ हो जायगा।

(५) सब के दिल में है जगह तेरी जो तू राज़ी हुआ
मुझ पै गोया एक ज़माना मेहरबाँ हो जायगा।

(६) क़ता कीजे न तअल्लुक हम से, कुछ नहीं है तो अदावत ही सही !

(७) कुछ तो दे अय फ़लक के नाइन्साफ़, आहो फ़रियाद की रुख़सत ही सही!

इन शेरों में सर्वत्र चमत्कार का कारण अनूठी सम्भावनाओं अथवा युक्तियों की सृष्टि है जो प्रतिभा की प्रतीक हैं।

उर्दू के श्रेष्ठ काव्य में *प्रतिभा किसी महत या मनोज्ञ प्रयोजन* की सिद्धि करती है; निकृष्ट काव्य में वह कवि की चतुराई मात्र को प्रकट करती है, जैसे सौदा की बहुत-सी उक्तियों में।

जैसा कि हमने निबन्ध के प्रारम्भ में कहा था उर्दू ग़ज़ल में प्रेममात्र के सौन्दर्य-वर्णन की चेष्टा नहीं पाई जाती। वस्तुतः उर्दू काव्य का प्रधान ध्येय बौद्धिक चमत्कार है, वस्तु-जगत में बोध-चेतना का प्रसार नहीं। फलतः उसमें हमारे साहित्य का न गम्भीर रस मिल सकता है, न परिपक्व जीवन-विवेक। अतः वह काव्य जहाँ सभाओं एवं महफ़िलों के लिये बहुत उपयुक्त है वहाँ *किसी जाति के जीवन का सम्बल बनने योग्य नहीं है।*

---

† शब्दार्थ— (१) नाज़ुकी = नज़ाकत; उस्तवार = मज़बूत। अह्द = वादा। (२) नीमकश = धीरे से छोड़ा हुआ तीर, अतएव आर-पार न जा सकने वाला। ख़लिश = चुभन। (३) यगाना = एक; यकता = बेमिसाल, अनुपम। दो-चार होना = दीख पड़ना। (४) बोसा = चुम्बन; बदगुमाँ = नाराज़, उसे ग़लत ख़याली हो जायगी। (६) ताल्लुक = संबंध; अदावत = शत्रुता। (७) फ़लक = आकाश; आहोफ़रियाद = वियोग जन्य रोना और शिकायत; रुख़सत = विदाई।

यह नहीं कि उर्दू के कवि भावना की गहराई में कभी उतरते ही नहीं, शिकायत की बात यह है कि उन्हें चमत्कार से कुछ ज़्यादा दिलचस्पी है। जहाँ उर्दू काव्य में रसात्मक गहराई पाई जाती है वहाँ यह कोरे चमत्कार-काव्य से कहीं अधिक तलस्पर्शी जान पड़ता है। मीर का काव्य काफ़ी हद तक रसात्मक या भावना-मूलक है, यद्यपि उसमें अनुभूति का दर्द या तीव्रता ही प्रधान है। †

(१) सिरहाने मीर के आहिस्ता बोलो
अभी टुक रोते-रोते सो गया है !

❀ ❀ ❀

(२) यह जो चश्मे पुर-आब हैं दोनों
एक खानाख़राब हैं दोनों।

(३) मैं जो बोला तो बोले यह आवाज़
उसी खानाख़राब की - सी है।

पहले शेर में सुकुमार व्यथा है, दूसरे में तीव्र दर्द; तीसरे में दर्द के लम्बे इतिहास की मार्मिक झलक। मीर के कुछ शेर प्रेम-दिवानी मीरा की याद दिलाते हैं। तभी तो वे दिल को खींचते हैं:—

क्या जानूँ दिल को खींचे हैं क्यों शेर मीर के
कुछ ऐसी तर्ज़ भी नहीं, ऐहाम भी नहीं।

और,

किसने सुन शेरे मीर यह न कहा
कहियो फिर हाय क्या कहा साहब !

मीर बड़े लोक-प्रिय शायर थे। लोक-हृदय सरल, दर्दभरे गीतों और पदों को विशेष पसन्द करता है। या फिर चमत्कारी उक्तियों को। बहुत ज़्यादा गहराईवाला अथवा जटिल बोधभरा काव्य लोक-कण्ठ में बसने योग्य नहीं होता।

ज़ौक़ ने शिकायत की है कि कोशिश करने पर भी कविगण मीर के ढंग को न प्राप्त कर सके। बात यह है कि उन कवियों में से किसी के पास मीर का दिल न था।

जहाँ ग़ालिब का काव्य 'अन्दाज़' या चमत्कारवाद का द्योतक है वहाँ मीर के काव्य की सहृदयानुमोदित प्रेषणा उस सिद्धान्त की एकान्तता को प्रमाणित करती है। चमत्कारी पदों को सुनकर 'वाह !' कहने को जी होता है, मीर

† (२) खानाख़राब = जिसने अपना घर बर्बाद कर लिया है। चश्मे पुर-आब = आँसू भरे नेत्र।

के दर्दभरे शेर 'आह !' की प्रतिक्रिया जगाते हैं। बहुत गहरा काव्य मूक आस्वादान की वस्तु होता है,

करके मीड़े कुसुम-लौं गई विरह कुँभिलाय

अथवा,

अँसुवन करत तरौंस को खनिक खरौंहो नीर !

और,

गृहणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ।

(मई, १९५०)

पं० रामचन्द्र शुक्ल—एक मूल्यांकन

शुक्लजी के आलोचक-विचारक व्यक्तित्व पर बहुत से समसामयिक
ने टिप्पणी की है, और प्रायः सभी ने उनके महत्त्व का अनुभव किय
किन्तु इस प्रश्न का कि शुक्लजी की महत्ता ठीक किस बात में है, अभ
निर्णय हो सका है, इसमें सन्देह है। इसका प्रमाण कई आलोचकों के
ही में प्रकट किये हुए उद्गार हैं। शुक्लजी और डा० रिचर्ड्स् का तुलन
अध्ययन प्रस्तुत करते हुए भी नगेन्द्र ने प्रकट किया है कि 'शुक्लजी अ
आव-डेट हो गये।' श्री शिवदानसिंह चौहान का कहना है कि शुक्ल
'अपनी तर्क-शून्यता और दुराग्रह को ढाँकने के लिए...... अनपेक्षित पां
प्रदर्शन का रूपक रचा,' और 'उन्होंने आई० ए० रिचर्ड्स् जैसे मनोविज्ञा
समीक्षक की पुस्तकों में से पूर्व-प्रकरण से हटाए वाक्यों द्वारा भारतीय लाक्ष
ग्रन्थों की स्थापनाओं और वर्गीकरण का विश्लेषण करवाया था। इस प्र
अपने मत की प्रशस्ति करके उन्होंने अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावा
प्रभाववाद, मूर्त्ति-विधानवाद, परावस्तुवाद आदि साहित्यकला की आधुनि
प्रवृत्तियों को प्रवाद और वितंडावाद कह कर उनकी निन्दा की थी।'

क्या शुक्लजी इतने अनुदार निर्णयों के योग्य हैं ? और क्या सचमुच
'आउट-आव्-डेट' हो गये ? हमें इसमें सन्देह है। हमारे विचार में उ
आलोचकों के इन निर्णयों पर पहुँचने का कारण यह है कि वे शुक्लजी
कुछ ऐसी चीजें ढूँढते हैं, जो उनमें नहीं हैं; और साथ ही वे उन विशेषताओं
की उपेक्षा भी करते हैं जो शुक्लजी में थीं। नीचे के पृष्ठों में हम अपने दृ
से शुक्लजी की इन विशेषताओं और कमियों को समझने की कोशिश करेंगे।

आलोचक एक विकसित संवेदना का रसग्राही पाठक होता है। आलोचक की
हैसियत से उसकी विशेषता यह होती है कि वह (१) रसानुभूति का बौद्धिक
विश्लेषण करने की क्षमता रखता है; और (२) कृतियों के मूल्यांकन का प्रयत्न
करता है। इस प्रकार आदर्श समालोचक में रस-ग्रहण एवं रसानुभूति के विश्लेषण
की शक्तियों के अतिरिक्त ऐसा दृष्टिकोण बनाने की प्रवृत्ति भी होनी चाहिए
जिससे वह विभिन्न कलाकारों का मूल्य आँक सके। समझाने की सुविधा के
लिए आलोचना-शक्ति के उपर्युक्त विभाग किए जा सकते हैं, पर वास्तव में

ये शक्तियाँ परस्पर-सम्बद्ध और सापेक्ष हैं। उदाहरण के लिए कोई आलोचक रसानुभूति के उपादानों का संकेत करते हुए किन तत्वों पर ध्यान देगा यह उसके मूल्यांकन-सबंधी दृष्टिकोण पर निर्भर करेगा; इसी प्रकार यह दृष्टिकोण रसग्राहिता को भी प्रभावित करता है— इसका प्रमाण वाद-ग्रस्त आलोचकों की वह प्रवृत्ति है जो उन्हें अपने वाद से बाहर की कृतियों का सौंदर्य देखने में संकोच का अनुभव कराती है।

पारस्परिक सापेक्षता के बावजूद उक्त तीन शक्तियाँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। हमारा विचार है कि जहाँ शुक्लजी में पहली दो शक्तियाँ पूर्णतया विकसित थीं, वहाँ उनमें मूल्यांकन का उचित (अप-टु-डेट) दृष्टिकोण बनाने लायक-चिंतन शक्ति न थी। पहली दो शक्तियाँ सफल व्यावहारिक आलोचक बनाती हैं; शुक्लजी ऐसे आलोचक थे। वे मूल्यांकन के सफल मानों का आविष्कार नहीं कर सके, यह इस बात का द्योतक है कि वे बहुत उच्च कोटि के साहित्य-मीमांसक न थे। इस दृष्टि से वे अरस्तू जैसे कान्तदर्शी प्रतिभा-मनीषियों से ही नहीं, रिचर्ड्स् जैसे साधारण किंतु वैज्ञानिक विचारकों से भी पीछे थे।

शुक्लजी की सबसे बड़ी शक्ति है रसग्राहिता; इतनी ठोस रसज्ञता वाले पाठक और आलोचक बहुत कम पैदा होते हैं। जो कोई भी शुक्लजी के गहरे सम्पर्क में आता है वह उनकी इस शक्ति से चकित और अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। स्वदेश में अथवा विदेश में रसग्राहिता के ऐसे असन्दिग्ध क्षमता-सम्पन्न समीक्षक कम मिलेंगे। कौन-सा काव्य वस्तुतः सुन्दर, वस्तुतः महान् है, इसे पहचानने में शुक्लजी की अन्तर्भेदनी दृष्टि कभी धोका नहीं खाती, भले ही वे हृदय उस दृष्टि का सफल विवेचनात्मक मंडन प्रस्तुत न कर सकें। उदाहरण के लिये शुक्लजी ने छायावादी रहस्यवाद को कभी स्वीकार नहीं किया। इस अस्वीकृति में उस समय के किसी आलोचक ने उनका साथ नहीं दिया, इसलिये उनके लिये यह आवश्यक हो गया कि वे रहस्यवाद का लम्बा-चौड़ा सैद्धान्तिक खंडन प्रस्तुत करें। इस सैद्धान्तिक खण्डन के महत्व में संदेह किया जा सकता है, किन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि शुक्लजी की रस-दृष्टि ने छायावाद में जो कमियाँ देखी थीं वे उसमें नहीं हैं।

क्यों बहुत से पाठक और आलोचक अपनी रसग्राहिता को ठीक से विकसित नहीं कर पाते, उसे विकृत और कुंठित हो जाने देते हैं, इसका सबसे बड़ा कारण है-एकांगी वादों का स्वीकार और अवलम्बन। शुक्लजी को अपनी गहरी रसग्राहिता में इतना विश्वास था कि वे नये-से-नये और

अधिक से अधिक भड़कीले, प्रचारित एवं प्रख्यापित वादों से प्रभावित होते थे। इसका कारण शायद यह था कि उन्होंने अपनी रसग्राहिणी वृत्ति महाकवियों के संपर्क में पुष्ट किया था—ऐसे कवियों के जिनका महत्त्व युगों में मुक्त कंठ से स्वीकार किया गया है।

यह समझना भूल होगी कि शुक्लजी विविध वादों का विरोध रसवाद रक्षा या मंडन के लिए करते हैं; वे उनका खंडन प्रायः इसीलिए क हैं कि वे (वाद) उनकी रसग्राहिता के विरुद्ध पड़ते हैं। आचार्य की र ग्राहिणी वृत्ति बतलाती है कि छायावादी और तथाकथित रहस्यवादी का में कोई गम्भीर कमी है; अब यदि उस काव्य का कोई हामी किसी 'वा का आश्रय लेकर सिद्ध करना चाहे कि वह काव्य वस्तुतः निर्दोष है, तो वे उ वाद की एकांगिता या निःसारता सिद्ध करने को तैयार हो जायँगे, औ पूर्णतया नहीं तो कुछ दूर तक, उसमें सफल भी होंगे। यही इनकी शक्ति है; यही प्रवृत्ति उनमें हठधर्मी का रूप धारण करती भी मालूम पड़ती है।

जब कोई वाद आचार्य की रसानुभूति के विरुद्ध खड़ा हो जाता है त वे कुछ इस प्रकार का भाव दिखाते प्रतीत होते हैं—रहने दो अपने सिद्धान्त ऐसे बहुत से 'वाद' देखे हैं। तुममें साहित्यिक अनुभूति तक तो है नहीं, सिद्धान्त बनाने चले हो!

किंतु एक विज्ञापित और प्रचलित वाद का, फिर चाहे वह मिथ्या ही क्यों न हो, निराकरण सहज काम नहीं। (और इस युग में 'वाद' एक नहीं, दर्जनों हैं; आचार्य किस किस का 'प्रामाणिक' परिचय प्राप्त करते और फिर निराकरण करते!) वादों के निराकरण के लिए उनके विरोध में उस रसानुभूति को खड़ा कर देना काफ़ी नहीं—क्योंकि रसानुभूति में सहानुभूति करनेवाले दुर्लभ हैं; आवश्यकता यह है कि अधिक पुष्ट, ग्राह्य और आधुनिक वाद द्वारा उनका मुकाबिला किया जाय। "आधुनिक" से मतलब यही नहीं कि वह नया मालूम पड़े, बल्कि यह भी कि वह एकांगी वादों से अधिक व्यापक, सब श्रेष्ठ सैद्धान्तिक दृष्टियों का समन्वय-रूप, और नवीनतम आविष्कृत तथ्यों की व्याख्या करनेवाला हो।

शुक्लजी ऐसे नवीन वाद या सिद्धान्त की परिकल्पना नहीं कर सके। इसके विपरीत उन्होंने नये वादों के विरोध में रखा पुराने रसवाद को जो आधुनिक साहित्यिक तथ्यों (जैसे उपन्यास, कहानी) की व्याख्या करने में नितान्त असमर्थ था। इसीलिए उनकी "वादों" की आलोचना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हो पाई।

किन्तु जहाँ यह ठीक है कि वे एकांगी वादों के विरोध में एक सुनिश्चित

साहित्यिक सिद्धान्त का निर्माण नहीं कर सके, वहाँ यह भी ठीक है कि प्रायः वे एकांगी वादों की कमियों को भाषा द्वारा पकड़ने और प्रकट करने में समर्थ हुए हैं। और यहाँ हमें शुक्लजी की विश्लेषण-शक्ति का लोहा मानना पड़ता है।

शुक्लजी रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या कर सकते हैं, उसके विधायक तत्वों की चेतना पाठक में उत्पन्न कर सकते हैं, इसका प्रमाण उनकी सूर, तुलसी, जायसी की समीक्षाएँ हैं।[१] इस प्रक्रिया में वे कहीं रसवादी पदावली का प्रयोग करते हैं, कहीं नहीं; पर वह अनिवार्य रूप में कहीं आवश्यक नहीं। 'तुलसी की भावुकता' अपनी सिद्धि के लिए रसवाद की सापेक्ष नहीं और न यह निर्णय कि 'नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है।' इसी प्रकार तुलसी के "शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण" की परीक्षा के पहले की यह भूमिका कि—'रस-संचार से आगे बढ़ने पर हम काव्य की उस उच्च भूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप में दिखाई देते हैं—न तो रसवाद पर आधारित ही कही जा सकती है और न उसकी पोषक।

शुक्लजी की चिन्तन-शक्ति

शुक्लजी में उच्च कोटि की रसानुभूति है, और विश्लेषण-शक्ति है, इससे पाठक यह परिणाम न निकाल लें कि उनमें सैद्धान्तिक चिंतन की शक्ति है ही नहीं। यह अन्तिम शक्ति उनमें है, पर वह विशेषोन्मुख है, सामान्योन्मुख नहीं। मतलब यह है कि शुक्लजी जहाँ विशिष्ट रसानुभूति को लेकर सुन्दर चिन्तन कर सकते हैं वहाँ "साहित्यमात्र" के संबंध में ठीक नहीं सोच पाते। दूसरे शब्दों में—वे जहाँ रसानुभूति के विशिष्ट अवसरों पर असाधारण खण्ड-सिद्धान्तों का आविष्कार कर डालते हैं वहाँ, उन खण्ड-सिद्धान्तों का एक महासिद्धान्त के रूप में समन्वय नहीं कर पाते—वे रिचर्ड्‌स की भाँति सिद्धान्त-पद्धति के निर्माण (System building) में पटु नहीं हैं। विशेष अवसर पर वे 'कल्पना' पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट कर जाते हैं, साम्प्रदायिक और स्वाभाविक रहस्य-भावना के सूक्ष्म भेद का निरूपण करते हैं, लक्षणा-व्यञ्जना से अभिधा को श्रेष्ठ घोषित करते हैं, काव्य में विभावन-व्यापार को प्रधानता देते हैं और रसवाद की गम्भीर कमियों का भी निर्देश करते हैं—पर वे इन खण्ड-दृष्टियों को एक नई साहित्य-दृष्टि में, एक नए साहित्य-शास्त्र के रूप में, ग्रंथित नहीं कर पाते। इसका एक कारण उनका यह भ्रम भी है

[१]—शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी उनकी सूक्ष्म दृष्टि और पैनी विश्लेषण-शक्ति के श्रेष्ठ निदर्शन हैं।

कि रस-सिद्धान्त एक पूर्ण सिद्धान्त है; और इस चेतना का अभाव उनके समस्त चिन्तन-खण्ड रसवाद की परम्परा के पोषक या अन्तर्गत नहीं हैं।

किन्तु ये चिन्तन-खण्ड, ये खण्ड-सिद्धान्त, जो विशिष्ट रसानुभूति की व्याख्या-रूप हैं, विवेकशील विचारकों के बड़े काम के हैं। और दो तरह से। प्रथमतः ये हमारा ध्यान साहित्यिक रसानुभूति और मूल्य से संबद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर आकर्षित करते हैं; और दूसरे उन तथ्यों का विश्लेषण भी प्रस्तुत करते हैं—यद्यपि यह विश्लेषण किसी विचार-पद्धति (System of thought) का अङ्ग नहीं बना। ये चिन्तन-खण्ड एक पूर्ण साहित्य-शास्त्र के निर्माण के लिए प्रायः महत्त्व रखते हैं जो देशकालगत नई अन्वेषित घटनायें वैज्ञानिक सिद्धान्तों के पुनर्मंथन के लिए। अवश्य ही शुक्लजी ने रसानुभूति से संबद्ध सभी तथ्यों का पर्यवेक्षण नहीं कर डाला है, पर उनकी स्वच्छ दृष्टि जितना देख सकी उसके लिए भविष्य का साहित्य शास्त्र उनका चिर-ऋणी रहेगा।

शुक्लजी आउट-आव-डेट नहीं होंगे क्योंकि उनमें सिद्धान्तों के निर्माण की नहीं, तथ्यों (Facts) को पकड़ने, की क्षमता है—और कठिनता से दीखनेवाले तथ्य कभी पुराने नहीं पड़ते। अवश्य ही इन तथ्यों का महत्त्व वही ठीक से आँक सकेगा जो या तो एक सर्वाङ्गपूर्ण साहित्यशास्त्र के निर्माण का प्रयत्न करेगा या ऐसे प्रयत्नों से परिचित होगा।

नीचे के उद्धरणों में पाठक कतिपय ऐसे तथ्य-संकेतक चिन्तन-खण्डों का आभास पा सकेंगे; जहाँ-तहाँ टिप्पणियाँ और प्रश्न शुक्लजी का दृष्टिकोण और आत्म-विरोध समझने में सहायक सिद्ध होंगे।

(१) काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए—रस का आधार खड़ा करनेवाला जो विभावन व्यापार है वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है। (चिन्तामणि, भाग दो, पृ० २)

[दूसरा वाक्य रस को प्रधानता देता प्रतीत होता है, जैसे रस साध्य हो और विभावन-व्यापार साधन। इसके विपरीत पहला वाक्य विभावों अर्थात् परिवेश (Environment) के मार्मिक चित्रण को प्रधानता देता है।]

(२) काव्य में 'आलम्बन' ही मुख्य है।...श्रोता या पाठक किसी काव्य को पढ़ता या सुनता है सो केवल दूसरों का हँसना, रोना, क्रोध करना आदि देखने के लिए ही नहीं बल्कि ऐसे विषयों को सामने लाने के लिए जो स्वयं उसे हँसाने, रुलाने, क्रुद्ध करने, आकृष्ट करने, लीन करने का गुण रखते हों। (पृ० ४८-४६)

[यह उद्धरण सं० (१) की आवृत्ति ही है।]

(३) उपमायें देने में कालिदास अद्वितीय समझे जाते हैं, पर वस्तु-चित्र को उपमा आदि का अधिक बोझ लादकर इन्होंने भद्दा नहीं किया।

(४) यों ही खिलवाड़ के लिए बार-बार प्रसंग प्राप्त वस्तुओं से श्रोता या पाठक का ध्यान हटाकर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना जो प्रसंगानुकूल भाव उद्दीप्त करने में भी सहायक नहीं, काव्य के गाम्भीर्य और गौरव को नष्ट करना है, उसकी मर्यादा बिगाड़ना है। (पृ० १६)

[अन्तिम दो उद्धरण कल्पना की मर्यादा का निर्देश करते हैं]

(५) 'विभाव' व्यंग्य नहीं हुआ करता। (पृ० २४)

[यह मान्यता ध्वनिवाद की विरोधिनी है।]

(६) गम्भीर-भाव प्रेरित काव्यों में कल्पना प्रत्यक्ष और अनुमान के दिखाए मार्ग पर काम करती है और बहुत घना और बारीक काम करती है। (पृ० १०४)

[प्रकृत कल्पना का कार्य कौतुक या चमत्कार का विधान नहीं है।]

(७) वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं। (पृ० १८१)

[उद्धरण सं० ५ से तुलना कीजिए]

(८) "कला कल्पना की नूतन सृष्टि में है, प्रकृति के रूपों के ज्यों के त्यों चित्रण में नहीं," "काव्य कल्पना का लोक है" यह सब उनके पेन बूटेवाली हल्की धारणा के बचे-बचे हैं। (पृ० १८६)

६—उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो उसकी तह में कोई 'प्रस्तुत अर्थ' अवश्य ही होना चाहिए। (पृ० २०७)

[हमारी समझ में यह प्रस्तुत अर्थ जीवन या जगत की मर्मस्पर्शिनी, वहाँ अनुस्यूत मूल्यों का, ही पर्याय हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि काव्य-साहित्य का काम जीवन और जगत की मर्मस्पर्शिनी का चित्रण अथवा तद्गत मूल्यों का उद्घाटन है। यह चित्रण या उद्घाटन रागात्मक प्रतिक्रिया जगाता है, पर उसका मुख्य लक्ष्य परिवेश के विशिष्ट रूपों का परिचय कराना है। यह व्याख्या 'विभावों की मुख्यता' के अनुरूप है। इस दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि साहित्य का प्रधान ध्येय रस अर्थात् मनोवेग है !]

१०—जगत-प्रसार के भीतर ही भगवान् का दर्शन है। (पृ० २१६)

[क्या इसका यह स्पष्ट निष्कर्ष नहीं है कि साहित्यकार का अपने परिवेश अर्थात् युग से परिचित होना जरूरी है !]

जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता (या दर्शक) का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—(इत्यादि)

—साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद

यहाँ शुक्लजी ने प्राचीन रसवाद तथा साधारणीकरण के सिद्धान्त की जिस कमी का उल्लेख किया है वह उतनी साधारण नहीं है जितनी कि उसे वे समझते हैं। जब दुष्यन्त और शकुन्तला एक दूसरे के सामने होते हैं तो पाठक या श्रोता की बोध-वृत्ति का विषय न तो केवल शकुन्तला ही होती है और न केवल दुष्यन्त, अतः उसकी प्रतिक्रिया भी इतनी सरल नहीं होती कि उसे केवल रति अथवा अन्य किसी भाव का उद्रेक कह कर उड़ा दिया जाय। जब दुष्यन्त शङ्का और अनिश्चय के कारण उपालम्भ तथा दोषारोपण करती हुई शकुन्तला का प्रत्याख्यान करता है तब हमारी अनुभूति का आलम्बन क्या होता है! दुष्यन्त! अथवा शकुन्तला! क्या उस समय हमारा ध्यान दुष्यन्त की दुविधा और शकुन्तला के कष्ट तथा क्रोध इन सभी पर नहीं होता! और क्या यह कहना अधिक ठीक नहीं होगा कि नाटक का यह स्थल हममें एक जटिल नैतिक परिस्थिति की समस्यामूलक चेतना जगाता है! स्पष्ट ही इस जटिल राग-बोधात्मक अनुभूति को किसी स्वीकृत स्थायीभाव से वर्गीकृत नहीं किया जा सकता।

शुक्लजी अपनी आलोचना के इन दूरगामी निष्कर्षों को नहीं देख सके, यह इस बात का निदर्शन है कि वे उच्च कोटि के सामान्योन्मुख विचारक नहीं थे। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। ऊपर हम ऐसे उदरण दे चुके हैं जहाँ शुक्लजी काव्य में विभावों को प्रधान घोषित करते हैं। यदि यह सत्य है तो कोई रचना जिसमें विभावों का प्रत्यक्षीकरण नहीं हुआ है, वे साहित्य नहीं हो सकती। ऐसी दशा में शुक्लजी का यह कथन है कि—

फारसी की शायरी भाव-पक्ष-प्रधान है। उसमें विभाव पक्ष का विधान नहीं या नहीं के बराबर हुआ।

(चिन्तामणि भाग २ पृ० ११०)

विस्मय हो जाता है। सम्भवतः शुक्लजी विभाव का अर्थ विश्व की प्रत्यक्ष छवियाँ समझते थे। क्योंकि फारस की शायरी गीतात्मक या मुक्तक रूप है, और उसका विषय प्रेम-संबन्धी भावनायें या मनोविकार हैं, इसलिये शुक्लजी को यह भ्रम हुआ कि उसमें विभावों का समावेश नहीं हो सकता। आश्चर्य है कि फारसी काव्य पर उक्त टिप्पणी करते हुए शुक्लजी को

यह शंका नहीं हुई कि यह रस सिद्धान्त के भी विरुद्ध पड़ती है। वास्तविक[ता] यह है कि गीति काव्य में कभी तो आलम्बन आदि विभाव संकेतित [या] आश्रित रहते हैं और कभी भावनाएँ एवं मनोदशाएँ ही हमारी बोध-वृत्ति [का] विषय होती और विभाव तत्व के रूप में साहित्यिक आकर्षण का आधा[र] खड़ा करती है। यहाँ यह भी याद रखना चाहिये कि आलम्बन से हमा[रा] तात्पर्य उस समग्र परिस्थिति-समूह से है जो काव्य-विशेष द्वारा हमारी बोध-वृत्ति का विषय बनाया जाता है। उदाहरण के लिए मीरा की प्रसिद्ध पंक्ति 'हेरी, मैं तो प्रेम दिवानी मेरा दरद न जाने कोय' हमारे सामने जिस आलम्बन को खड़ा करती है वह मीरा का प्रेमास्पद नहीं, स्वयं मीरा का दर्द से विधुला हुआ व्यक्तित्व है। उक्त पंक्ति को पढ़ कर कोई विकल वियोगिनी उसमें अभिव्यक्त भावना का अनुभव भी कर सकती है, किन्तु साधारणतया यह पाठकों में मीरा के प्रति गाढ़ी ममता और करुणा का उद्रेक ही करती है। जहाँ हम गीतबद्ध भावना से तादात्म्य अनुभव करते हैं वहाँ हमारी अनुभूति में विषय और विषयी, द्रष्टा और दृश्य, आलम्बन और आश्रय में एकरूपता स्थापित हो जाती है। गीति-काव्य में आलम्बन के अभाव का भ्रम इसी एकरूपता से होता है। वास्तव में, विषय और विषयी की यह एकतानता कोई दुर्लभ या निराली वस्तु नहीं है; अपने सुख, दुःख आदि का सचेत उपभोग करते हुये हम उसका प्रतिदिन अनुभव करते हैं।

क्या साहित्य के मूल्यांकन में उसका युग अथवा मानव-जीवन से सम्बन्ध देखना अपेक्षणीय है ? विशुद्ध रसवाद से इस प्रश्न का उत्तर पाना कठिन है। रसवाद के कट्टर समर्थक होने के कारण शुक्लजी भी इस संबन्ध में स्पष्ट धारणा नहीं बना सके। उनकी मान्यता है कि 'जिस प्रकार जगत अनेक रूपात्मक है, उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेकभावात्मक है।' इस मंतव्य से वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जबकि इन सब का प्रकृत सामंजस्य जगत के भिन्न-भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाय।' इस सम्बन्ध में वे 'भावयोग', और 'रस-दशा' (हृदय की मुक्तावस्था) का भी उल्लेख करते हैं। स्पष्ट ही साहित्य के प्रयोजन की ये व्याख्याएँ आत्मपाती (Subjective) हैं, वे भाव-सामंजस्य पर ही अधिक गौरव देती हैं। रिचर्ड्स ने भी अन्त-र्वृत्तियों के सामञ्जस्य को काव्य का लक्ष्य बतलाया है। किन्तु इसके साथ शुक्लजी के 'विभावों की प्रधानता' वाले सिद्धान्त की संगति नहीं बैठती, और 'अनेकरूपात्मक जगत' की अभिव्यक्ति एक गौण चीज़ बन

जाती है। यदि थोड़े विश्व के परिचय से अन्तर्वृत्तियों का काफी सामंजस्य प्राप्त हो जाय तो कवि 'व्यक्त सत्तामात्र' के पीछे क्यों डोलता फिरे ? यदि केवल शेक्सपियर अथवा कालिदास किंवा तुलसी की कृतियों को पढ़कर पाठक के सब मनोभावों का समुचित व्यायाम हो सकता है तो वह विश्व-साहित्य से परिचित होने की चेष्टा क्यों करे ? और प्राचीन कवियों को छोड़ कर आज नये साहित्य की भूख से क्यों पीड़ित हो ? शुक्लजी के निबन्धों में इन शंकाओं का समाधान मिलना असंभव है। जब वे लिखते हैं—यदि वह (मनुष्य) लहलहाते हुए खेतों और जङ्गलों, हरी घास के बीच घूम-घूम कर बहते हुए नालों"""मंजरियों से लदी हुई अमराइयों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन दुःखी का आर्त्तनाद सुन वह न पसीजा"""तो उसके जीवन में रह क्या गया !"[1] तो मालूम पड़ता है कि वे साहित्य के प्रयोजन की वैज्ञानिक अर्थात् बुद्धिगम्य व्याख्या प्रस्तुत न करके 'कविता नंदन कानन की कोकिला है' जैसी पदावली से पाठकों को भुलावा देने की कोशिश कर रहे हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि 'रस' और 'भाव प्रसार या भाव-सामंजस्य' का दृष्टिकोण न तो साहित्य और मानवी जीवन के सम्बन्ध की समुचित व्याख्या कर सकता है, और न साहित्य के सांस्कृतिक महत्व की। 'अनेकरूपात्मक विश्व' में भयंकर घृणा, क्रूर हिंसा और नग्न वासना से सम्बद्ध तथ्य भी हैं और साहित्य में प्रकृतिवाद (Naturalism) भी एक सम्भव दृष्टिकोण है। उत्तर में कहा जा सकता है कि शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति में 'लोक-मंगल' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु वह किस प्रकार उनकी 'रस' और 'भावयोग' की दृष्टियों से अनुगत होता है यह हमारी समझ में नहीं आता।

एक स्थल में ब्राउनिंग पर प्रशंसात्मक टिप्पणी करते हुये शुक्लजी ने लिखा है—'कितने गहरे, ऊँचे और व्यापक विचारों के साथ हमारे किसी भाव या मनोविकार का संयोग कराया जा सका है, कितने भव्य और विशाल तथ्यों तक हमारा हृदय पहुँचाया जा सका है, इसका विचार भी कवियों की उच्चता स्थिर करने में बराबर रखना पड़ेगा'। (चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५२) इस वाक्य में 'भी' शब्द लेखक के मन की दुविधा और

[1] देखिये "कविता क्या है ?" निबंध

उनकी मूल्यांकन-संबन्धी धारणा की डाँवाडोल स्थिति को व्यक्त करत
वस्तुतः शुक्लजी अन्त तक यह निश्चय नहीं कर सके कि साहि
मूल्यांकन का पैमाना केवल अन्तर्विकारों का सामंजस्य है अथवा
और उसके परिवेश का व्यापक रागात्मक संबन्ध। अन्य व्यापारों
भाँति मनुष्य की साहित्य-सृष्टि भी उसके शेष सृष्टि से सामंजस्यमूलक
(Adaptation) का प्रश्न है, इसकी चेतना शुक्लजी में नहीं
पाती। इसीलिए जहाँ 'तुलसीदास' में उन्होंने उक्त कवि की वर्णाश्रम
सामाजिकता की प्रशंसा की वहाँ वे यह नहीं देख सके कि आज के
परिवेश (Environment) में नये कलाकार की सामाजिक मूल्य-
का कोई दूसरा रूप भी हो सकता है।

(१६४७)

जैनेन्द्र की उपन्यास-कला

रसानुभूति अर्थात् साहित्यिक अनुभूति को बुद्धिगम्य बनाने की चेष्टा—आलोचना—एक कठिन व्यापार है। उसमें लेखक की ही नहीं आलोचक की भी अग्नि परीक्षा हो जाती है। विशेषतः जब आलोच्य लेखक अपनी जाति के अन्य सदस्यों की अपेक्षा असाधारण या निराला हो। किन्तु आलोचक बाध्य होता है। जीवनगत सार्थकता (Significance) की सम्प्रतीति (Vision) लेखक को और साहित्यगत सार्थकता की प्रतीति आलोचक को विवश कर देती है। दोनों का प्रयास दृष्ट या अनुभूत सत्य को प्रकाशित करने के लिए होता है; और दोनों का उद्देश्य जीवन-विषयक सत्य, जीवन के मूल्यों की चेतना की, उपलब्धि है।

अब समय आ गया है कि हम अपने, अर्थात् हिन्दी के, लेखकों को विश्व-साहित्य के मानदण्ड से नापें। यह मानदण्ड कोई सिद्धान्त नहीं अपितु मानवता के अतीत और वर्तमान में प्रसरित सम्पूर्ण जीवन एवम् अनुभव और उसे व्यक्त करने के प्रयत्न ही हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की कुछ विशेषताएँ साधारण दृष्टिपात से देखी जा सकती हैं। प्रत्येक पाठक महसूस करता है कि उनमें बड़ी-बड़ी घटनाओं का अभाव रहता है। यह मनोतन्त्र के अनुकूल तो है ही, शायद, जैसा कि हम आगे देखेंगे, कुछ और भी अर्थ रखता है। पात्र भी थोड़े ही होते हैं। लेखक का विश्वास है कि—"इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं"। (सुनीता की प्रस्तावना) किन्तु पात्रों और घटनाओं की कमी या अभाव से जैनेन्द्र के उपन्यास अरोचक नहीं हो पाते। वस्तुतः यदि पाठक काफी शिक्षित और सुरुचिसम्पन्न हो, तो उसे यह उपन्यास काफी, कहीं-कहीं अत्यधिक, रोचक लगते हैं। इसका क्या रहस्य है?

ऊपर के प्रश्न के स्पष्टीकरण में जैनेन्द्र की शक्ति का, उनकी कला का, रहस्य निहित है। हिन्दी के उपन्यासकारों में यह केवल उन्हीं की विशेषता है कि वे कथा के विकास के लिए घटनाओं पर बिलकुल निर्भर नहीं करते, अपितु उनके बदले जीवन की नितान्त साधारण गतियों और

संकेतों का आश्रय लेते हैं। जैसे पात्र-विशेष को समझने के लिए उन नाओं की बिलकुल आवश्यकता नहीं है जिन्हें वह स्वयं अथवा दुनिय लोग महत्वपूर्ण समझते हैं। इसके विपरीत व्यक्ति-विशेष नितान्त अत गतियों और संकेतों में अपने को प्रकाशित करता है—उसका कोई इंगित, मनोविज्ञान अथवा नीति की दृष्टि से, व्यर्थ नहीं है।

तात्पर्य यह कि जैनेन्द्र के उपन्यासों की विषय-वस्तु, घटनाएँ न Gestures हैं। (यहाँ अवश्य ही हम घटना शब्द का बहुत वैज्ञानि प्रयोग नहीं कर रहे हैं।) कम से कम लेखक की दो प्रमुख कृतियों, 'सुनीत और 'कल्याणी' के सम्बन्ध में यह सत्य है। यहाँ प्रश्न उठता कि अमूर्तमाय सम्बल को लेकर लेखक किसी अंश तक भी रोचक कथा की सृ कैसे कर डालता है ! किस प्रकार वह जीवन की क्षुद्र भंगिमाओं को सार्थकत के भार से भारान्वित कर देता है ! बात यह है कि, लेखक के ही शब्दों में 'जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी है।' किस प्रकार क्षुद्र में महत्, पिण्ड में ब्रह्माण्ड अन्वित या प्रतिफलित हो रहा है, किस प्रकार जीवन का प्रत्येक कण सम्पूर्ण जीवन की गरिमा से मंडित है और उसे समझने की कुञ्जी है, यह लक्षित करना जैनेन्द्र की कला की अपनी विशेषता है। फ्रेन्च दार्शनिक बर्गसाँ ने अपने प्रसिद्ध 'हास्य' (Laughter) निबन्ध के उपोद्घात में हास को लक्ष्य करके लिखा है—However trivial it may be we shall treat it with the respect due to life. जीवन के क्षुद्रतम संकेतों के प्रति जैनेन्द्र का यही भाव है। यह नहीं कि वर्तमान काल के अन्य औपन्यासिक ऐसा ही भाव नहीं रखते—रूस के सर्वदर्शी कलाकार टॉल्सटॉय मानवता के किस गतिलेश की उपेक्षा करते हैं ! किन्तु जैनेन्द्र अनवरत घटनाओं को बचाते हुए इन्हीं पर निर्भर करते हैं। उनके पात्रों की सारी उत्तेजना एक-दूसरे के क्षुद्र इंगितों को केन्द्र बनाकर घूर्णमान होती है और पाठक पद-पद पर अकिंचन क्षुद्र की शक्ति एवम् महत्ता से चकित और अभिभूत होता है।

जैनेन्द्र की कला के वे उपकरण क्या हैं जिनके द्वारा वे क्षुद्र की महत्ता का उद्घाटन करते हैं ? उत्तर है; मनोविज्ञान और दर्शन। पात्रों की गतिभङ्गियों को गहन मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक तथ्यों से सम्बद्ध करके यह लेखक उन्हें निराली सार्थकता (Significance) में प्रतिष्ठित कर देता है। सजग पाठक को उक्त कथन के निदर्शन पाने में कठिनाई नहीं होगी। कहा जा सकता है, कि 'सुनीता' की सारी समस्या मनोवैज्ञानिक है और 'कल्याणी' की मुख्यत नैतिक। 'मुख्यतः' इसलिए, कि सुनीता नैतिक गुत्थियों से रहित नहीं है और

कल्याणी का व्यक्तित्व मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अनूठा है, यद्यपि उसकी अपनी समस्या प्रायः नैतिक है। 'सुनीता' दम्पति की ऊब से शुरू होती है और यह ऊब तथा श्रीकान्त की हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व में अभिरुचि एवं उसके प्रति आकर्षण कथानक को आगे बढ़ाते हैं। अन्त तक सुनीता और हरिप्रसन्न एक-दूसरे के लिए तथा पाठकों के लिये मनोवैज्ञानिक पहेली बने रहते हैं। श्रीकान्त की उदारता भी मनोवैज्ञानिक प्रश्न-सा लगती है। सत्या का व्यक्तित्व मात्र मनोवैज्ञानिक सार्थकता रखता प्रतीत होता है, वह उपन्यास की नैतिक प्रगति में कोई योग नहीं देती। कुछ विशेष घटनाएँ भी देखें। लेखक बाँस में लगी बुहारी से मकड़ियों के जाले हटाती हुई सुनीता के सौन्दर्य का नहीं, मन का विशेष वर्णन करता है।—"यह मकड़ी इतनी जाने कहाँ से पैदा होकर आ जाती है, "...."जाने इतना सारा जाला अपने पेट में कहाँ से निकाल लेती है।"......"जैसे वह मकड़ी अपनी घिनौनी टाँगों से उसके कलेजे पर से भागी जा रही है।"...... आगे चलकर हम पढ़ते हैं-'हरिप्रसन्न मानो मकान में नहीं है, "घर" में है।' निम्न वाक्य में सत्या के Gesture की कैसी रोचक व्याख्या है – 'और पास लगी-लगी सत्या मानो बतला रही है—कि जैसी, "मुझ से हो सकी वैसी नमस्ते मैंने कर ली है। तुम नहीं जानते तो मैं भी नहीं जानती, मैं जोर से बोल कर नमस्ते कहने वाली नहीं हूँ।" सुनीता की अनुपस्थिति में खाना बनाने का उपक्रम करते हुए श्रीकान्त और हरिप्रसन्न बिलकुल हल्की-हल्की बातें करते हैं पर न जाने क्यों वे हमें नितान्त रोचक और अर्थपूर्ण जान पड़ती हैं। वाचक्नवी गार्गी की भाँति कल्याणी प्रश्न-पर-प्रश्न किए जाती है। इस पर उपन्यास का वक्ता कहता है—'स्पष्ट वह बहस चाहती थीं। सुनना चाहती थीं, कहना चाहती थीं; कुछ करने की गर्मी चाहती थीं।' कल्याणी की निरपेक्ष आत्मलीनता से अपनी बात कहते पाकर वक्ता महोदय कहते हैं-'कहकर उन्होंने मुझे ऐसे देखा जैसे मैं हूँ ही नहीं। जैसे मेरे अभाव में दीवार के सामने भी यह सवाल इसी प्रकार रक्खा जा सकता है।' यहाँ पाठक के मनोविनोद का हेतु स्पष्ट ही एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का अतिरंजित उल्लेख है।

क्षुद्र को महत्वपूर्ण दिखाने का लेखक का दूसरा अस्त्र दर्शन है। दर्शन से मतलब है जीवन-सम्बन्धी प्रश्नों का अनुचिन्तन। वास्तव में दार्शनिकता जैनेन्द्र का स्वभाव ही है, वह कहीं बाहर से लाई हुई चीज नहीं। तभी तो वह ऐसे घरेलू शब्दों में इतने तीव्र रूप में प्रकट हो जाती है। अपने दार्शनिक उद्‌गारों को लाने के लिए लेखक को किसी बड़े अवसर की अपेक्षा नहीं होती, न कोई भूमिका ही बाँधनी पड़ती है। वे सहज,

रत्न निकल पड़ते हैं और पाठक को अपनी स्वाभाविकता एवं मार्मि-
मिकता से अभिभूत कर लेते हैं। साधारण पाठक को सन्देह भी नहीं है
यह कोई दुरूह बात सुन रहा है, वह सहसा चमत्कृत होकर रह जात
'त्यागपत्र' में प्रमोद कहता है—'जीवन में एक बात तो नहीं है, ब
बातें हैं।' जैनेन्द्र को भी जीवन चारों ओर से जटिल मालूम पड़ता है। उ
उपन्यासों में कम-से-कम एक पात्र अवश्य दार्शनिक होता है—अ
कई में थोड़ा-थोड़ा दार्शनिकता का अंश मिला रहता है; उस अंश
पात्र अपने सदा के जिज्ञासु अथवा कुण्ठाग्रस्त मस्तिष्क को पाये रहते
प्रमोद कहता है—'घटनाएँ होती हैं, होकर चली जाती हैं। हम जीते
और जीते जीते एक रोज मर जाते हैं। जीना किस ढंग से आरम्भ करते
पर उस जीवन के इस किनारे आते-आते कैसी ऊब, कैसी उकताहट
में भर जाती है।' कितने सीधे पर मार्मिक उद्‌गार हैं! कहीं-कहीं जैने
के वाक्य पेशेवर फिलासफरों को भी लजा दे सकते हैं—'सत्य अहं न
नहीं है और जानना सब अहं रूप है। इससे सत्य जाना नहीं जाता
और 'हमारी धारणाएँ हमारी कुठरियाँ हैं। उनमें हमारा ठिकाना है।
हमें गर्म रखती हैं और अँधेरे में रखती हैं।......हमारे सारे सगुण विशेषण
मानो चौखटे हैं, जिनमें हम अपने को और औरों को जड़कर देखने
आदी हैं।' स्वयं स्पिनोज़ा और कांट ने भी इससे अधिक गम्भीर बा
कब कही हैं। अपनी सरल व्यञ्जना से पाठक को धोखा देनेवाले ऐसे
उद्‌गार जैनेन्द्र में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। और पद-पद पर पाठक आश्चर्य
करता है कि इतनी सीधी भाषा में ऐसी कठिन बातें कैसे कही जा सकती हैं।

इन उपकरणों द्वारा जैनेन्द्र अपने कथानक को रोचक बनाते हैं। दूसरे शब्दों में, हम उनके पात्रों में अभिरुचि लेते हैं या तो इसलिए कि उनके व्यक्तित्व में मनोवैज्ञानिक जटिलता है, अथवा इसलिए कि वे निरन्तर जीवन की दार्शनिक-नैतिक सार्थकता को सजग भाव से देखते या खोजते रहते हैं।

(२)

गतवर्ष मेरे (अधिक ठीक कहूँ तो आरा कालेज के) एक विद्यार्थी† ने "सुनीताकार की कला" पर एक निबन्ध लिखकर मुझे दिखाया। उसके कुछ वाक्य मुझे मार्मिक लगे। 'सुनीता में घटनाएँ बिलकुल नहीं हैं।......घटनाओं के सहारे लेखक पाठक के मस्तिष्क में अनन्त काल के लिए एक गहरा चिह्न बना देता है। इन्हीं घटनाओं को लेकर पाठक अपने विचारों को जमाता है, और अपने पास इसी स्थल से कुछ रख लेता है।......सचमुच कभी-

† श्रीयुत सत्यदेव (अब एम० ए०)

कभी पाठक सोचने लगता है कि "सुनीता" से कुछ मिला या नहीं। सच पूछिए तो यह खाली-खाली मालूम (महसूस?) करता है।' इस उद्धरण के दूसरे और तीसरे वाक्यों में अपेक्षाकृत कठिन भावों को भाषा में बाँधा गया है, इसलिए वे मुझे अच्छे लगे। साथ ही जैनेन्द्र की कला पर एक निष्पक्ष-सी सम्मति भी पढ़ने को मिली। इसके बाद मैंने श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' पुस्तक में जैनेन्द्र की आलोचना पढ़ी। उनकी 'दूसरी शिकायत (पहली को जाने दीजिये—लेखक) यह है कि जैनेन्द्रजी अपने पात्रों को सुस्पष्ट व्यक्तित्व नहीं देते, न उनके सुख-दुख को सुलझे हुए रूप में हमारे सामने रखते हैं।......सच पूछिए तो उन पात्रों का व्यक्तित्व और उनकी समस्या ही ठीक तरह से समझ में नहीं आती।' आगे वे कहते हैं—'जो व्यक्ति भावना की गहराई में इतनी दूर तक पैठ सकता है वह उसे परिमार्जित स्वरूप नहीं दे सकता यह बात समझ में नहीं आती।'

ऊपर की आलोचना में अवश्य ही जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की किसी कमी की ओर संकेत है। हम उस कमी को अपने ढङ्ग से समझने की चेष्टा करेंगे।

इतने मनोविज्ञान और दर्शन का सम्बल होते हुए भी जैनेन्द्र विश्व के प्रथम श्रेणी के कलाकारों की श्रेणी में पहुँचते हुए क्यों नहीं दिखाई देते? क्यों आज भारतीय औपन्यासिकों में भी उनका स्थान सर्वोच्च नहीं दीखता? यही ऐसा तो नहीं है कि वे अपने मनोविज्ञान और दार्शनिकता का उचित उपयोग नहीं कर पाते?

बात कुछ ऐसी है। वस्तुस्थिति यह है कि जैनेन्द्र अपनी शक्तियों का एक निर्दिष्ट दिशा में प्रयोग नहीं करते। उनका मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और दार्शनिक चिन्तन दोनों, अलग-अलग अथवा साथ, एक हृदयंगम प्रयोजन की पूर्ति के लिए प्रवृत्त नहीं होते। अपनी सारी मनोवैज्ञानिकता के बावजूद वे हमारे सामने पात्रों के अभ्यन्तर को खोल कर नहीं रख पाते और न वे अपने चिन्तन से किसी समस्या के हल पर पहुँचते हुए ही दीखते हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनके पात्रों के चित्र पूरे नहीं उतरते, इसके कई कारण हैं। पात्रों की विशिष्ट परिस्थितियों—उनके सफल विश्लेषण—में लेखक का जितना आग्रह दीखता है उतना उनके सम्पूर्ण जीवन को प्रकाशित करने में नहीं। झाड़ू देती हुई सुनीता क्या सोचती है, यह बताने का समय लेखक को मिल जाता है; किन्तु अपने जीवन की दिशा, अपने प्रमुख लक्ष्यों और सम्बन्धों के बारे में उसकी विचारात्मक प्रतिक्रिया क्या

है, यह बताने की, वह विशेष चिन्ता नहीं करता। हरिप्रसन्न की उप
में सुनीता के मन में क्या-क्या विकल्प उठते हैं, कैसा द्वन्द्व रहता है
न हम सुनीता के न किसी और पात्र अथवा स्वयं लेखक के उद्गारों से
पाते हैं। ऐसा लगता है कि जैनेन्द्र पात्रों के व्यक्तित्व का नहीं
विशिष्ट (Particular) गतियों का मर्मोद्घाटन करने बैठते हैं।
विश्लेषण-पटुता पर्याप्त मात्रा में है, पर समन्वय-शक्ति का अभाव-सा
वे पात्र-विशेष को अपनी सम्पूर्णता में दिखाने की कम चेष्टा करते हैं।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डूगाल एवं फ्रायड और एडलर के अनुसार
मानव-जीवन लक्ष्योन्मुख होता है। किसी लेखक को समझने का अर्थ उ
उठाए हुए प्रश्न और समाधान को ठीक-ठीक समझना है। इसी प्र
पात्र विशेष को समझना उसके जीवन के प्रमुख लक्ष्य की जानकारी
बिना नहीं हो सकता। जैनेन्द्र के पात्र जीवन में किसी लक्ष्य को लेकर च
हुए दिखाई नहीं देते—उनके समझे जाने में यह एक बड़ी बाधा है
घटनाएँ स्वतः महत्वपूर्ण नहीं होतीं। उनकी महत्ता और स्मरणीयता
कारण यही होता है कि वे पात्र-विशेष के लक्ष्य को आगे या पीछे ढकेल
हैं। ऐसी दशा में कोई भी घटना महत्वपूर्ण बन जाती है। (नाटक
परम्परागत धारणा के मूल में कुछ ऐसा ही तत्व है।) जैनेन्द्र के उपन्यास
में कुछ और प्रकार की घटनाएँ हो सकती हैं—पर इस प्रकार की घटना
नहीं हैं। यहाँ घटनाएँ किसी लक्ष्य की अपेक्षा से सार्थक
हो उठतीं। आधुनिक युग के अन्य औपन्यासिकों में भी बड़ी घटनाएँ
नहीं होतीं, फिर भी वे घटना-शून्य प्रतीत नहीं होते। गाल्सवर्दी
एक हजार पृष्ठ के फोर्साइट गाथा में बड़ी घटनाएँ कहाँ हैं! फिर भ
वह न अमूर्त लगता है, न रहस्यमय; पाठक नायक और नायिका दोनों के
जीवन को क्रमशः अधिकाधिक समझते चलते हैं। सुनीता की सबसे
स्मरणीय घटना—नायिका का नग्न होना—भी किसी चिर-अपेक्षित लक्ष्य
से सम्बद्ध नहीं दीखती—किसी नैतिक या मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व का पर्यवसान
नहीं मालूम पड़ती।

स्पष्ट लक्ष्य के अभाव में जैनेन्द्र के पात्र क्रियाशील नहीं हो पाते।
उनकी मनोवैज्ञानिक जटिलता और नैतिक चिन्ताशीलता क्रियाहीन प्रतीत
होती है। हरिप्रसन्न क्रान्तिकारी हो सकता है, किन्तु रवीन्द्र के 'गोरा' जैसा
तेज उसमें कहाँ है। रवीन्द्र की 'कुमुदिनी' में भी, जहाँ नायिका का
आत्म-चित्रण प्रधान है, उसके पति और भाई में कर्मण्यता की कमी नहीं
है। (गाल्सवर्दी की इरीन का पति भी क्रियाशील है, और नायिका की

बचे रहने की इच्छा उसके व्यक्तित्व को गतिमय बना देती है।) पात्रों की क्रियाशीलता पाठकों के मन पर उनके लक्ष्यों और सम्मतियों का महत्व अंकित कर देती है।

इसी प्रकार उपन्यासों का चिन्तन भी प्रभविष्णु नहीं हो पाता। जैनेन्द्र और उनके पात्र किसी स्पष्ट प्रश्न को लेकर नहीं चलते। जीवन की प्रत्येक गति की नैतिक या दार्शनिक व्याख्या करने का प्रयत्न दीख पड़ता है, इसी लिए सम्पूर्ण जीवन पर तेज प्रकाश नहीं पड़ पाता। ऐसा लगता है कि लेखक अथवा उनके दार्शनिक पात्रों को पद-पद पर जटिल प्रश्न दिखाई देते हैं, पर वे उन अनेक प्रश्नों को एक सुस्पष्ट बड़ी समस्या के रूप में नहीं देख पाते। जीवन की समस्याएँ बहुत भी हैं और थोड़ी भी। चिन्तन की सुविधा के लिए बहुत-से प्रश्नों को एक-दो महती समस्याओं के रूप में सामने रख लिया जाता है। दूसरे, उपन्यास में दार्शनिक समस्या पात्रों के जीवन में से उठती हुई दीखनी चाहिए। किन्तु जैनेन्द्र के उपन्यासों में हम ऐसा नहीं पाते। उनका कोई भी पात्र किसी समय किसी भी समस्या पर सोचने लग सकता है। 'कल्याणी' में यह दोष अतिरञ्जित रूप में पाया जाता है। पात्रों के जीवन के समान उनके चिन्तन-उद्‌गारों की दिशा का पता लगाना कठिन हो जाता है। उपन्यास के चिन्तन का केन्द्र पात्रों की व्यावहारिक समस्याएँ होती हैं, जैनेन्द्र इस प्रतिबन्ध को मानते नहीं दीखते। कहीं-कहीं उनके पात्रों का चिन्तन बहुत लम्बा लगने लगता है। रवीन्द्रनाथ के 'गोरा' में भी लम्बी स्पीचें और स्वगत उद्‌गार हैं; किन्तु पात्रों की आशा-कांक्षा और प्रयत्नों से सीधे सम्बद्ध होने के कारण वे अनैच्छिक नहीं हो पाते।[१]

असली जीवन में चिन्तन काफ़ी हद तक Rationalization (वासनामूलक पक्षपातों को यौक्तिक सिद्ध करने) रूप होता है। किन्तु जैनेन्द्र के पात्र अवसर असली दार्शनिकों की भाँति, निरपेक्ष (Impersonal) ढंग से सोचते हैं। ऐसा लगता है, मानो लेखक ने उनके पूरे व्यक्तित्व में से अवसर विशेष के लिए केवल दार्शनिक अंश को चुन लिया है। 'कल्याणी' में चिन्तन प्रधान है, इसलिये उसमें यह दोष भी अधिक

---

[१] गोरा अपने को हिन्दू कहता है, रवीन्द्र सिद्ध करना चाहते हैं कि वह मनुष्य है, मानवता का दावा प्रधान है। उसे जन्म से आयरिश होने का ज्ञान कराके वे दल-बद्ध मनुष्य के सत्यांश और मिथ्यांश पर अत्यन्त तेज रोशनी डाल सके हैं। 'गोरा' की प्रधान समस्या एक और स्पष्ट है।

मात्रा में है। जो महाशय 'कल्याणी' की कथा कह रहे हैं वे एक
अपने को वृद्ध बना डालते हैं। इसलिए उनमें तटस्थ दार्शनिक
अतिरिक्त किसी मानवी दुर्बलता की आशा नहीं करनी चाहिये। कल्
उनके लिए मात्र मानो अध्ययन की वस्तु है, उससे उनका कोई
जीवन्त सम्बन्ध नहीं है। उन्हें कल्याणी की याद क्यों आती है,
एकमात्र उत्तर यही है—क्योंकि कल्याणी का व्यक्तित्व एक नैतिक
मनोवैज्ञानिक उलझन है, समस्या है। कल्याणी के प्रति उनके हृद
कोई विकार तो हो ही नहीं सकता—मानो इसीलिए वे चिरवृद्ध बना
गये हैं! ऐसे निस्संग पुरुष असली जीवन में कम होते हैं। श्रीकान्त
एकान्त उदारता भी कठिनता से समझ में आती है—लेखक ने जैसे
बूझकर उससे अन्तर्द्वन्द्व को, जिसकी सम्भावना का सिनेमा में बीज
देता है, दबा डाला है।

ऊपर हमने यथाशक्ति जैनेन्द्र की कला के सम्बन्ध में सत्य को खोजने
चेष्टा की है। अपनी सारी कमियों के बावजूद (और किस कलाकार
नहीं होतीं!) जैनेन्द्र एक बहुत ही मौलिक लेखक हैं। दृष्टिकोण
नवीनता से वे छोटी-से-छोटी घटना को असाधारण बना देते हैं।
के जीवन पर सोचता हुआ "त्यागपत्र" का प्रमोद उनके दुःखों के लि
समाज को नहीं, अपने को दोषी ठहराता है। उसका मुख्य अभियोग समा
के नहीं, अपने विरुद्ध है—'मैं इतना दुर्बल क्यों निकला, क्यों बुआ
माँग मुझ से पूरी नहीं हुई!' उसका यह उद्गार कितना मार्मिक है
'मैं सहायता का मन लेकर आया था। देखता हूँ, सहायता कोई ले
नहीं।' जैनेन्द्र की कृतियों में 'सुनीता' सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें विशेष
के मनोविज्ञान और दर्शन का सन्तुलित सम्मिश्रण है। जैनेन्द्र का
छोड़ने के बाद, उनके उपन्यासों को समाप्त कर चुकने पर ही, हम उन
मौलिकता के जादू से बचकर उनकी कमियों को देख पाते हैं।

अतिरिक्त टिप्पणी—"त्यागपत्र"

जैनेन्द्र सम्बन्धी उक्त लेख, शायद, सन् ३८ में लिखा गया था।
से, शायद, बीच में "सुनीता" ही एक बार देखी है। कल "त्यागपत्र"
शुरू कर ड़ाला और आज सवेरे समाप्त कर दिया। ताजी प्रतिक्रिया लिखने
बैठा हूँ—यह जानते हुए भी कि कुछ विलम्ब से लिखना सन्तुलन की
के लिये अच्छा हो सकता है।

मुझे याद है कि "जैनेन्द्र की उपन्यास कला" पढ़ चुकने पर मैंने
एक पत्र में—श्री जैनेन्द्र कुमार से, जो उस समय ... में रहते

अध्यापक हैं—पूछा था कि कहीं मैंने जैनेन्द्र के विरुद्ध अधिक तो नहीं लिखा है। उत्तर मिला था—'नहीं, बल्कि आपने प्रशंसा ही अधिक की है।' आज मैं उस उत्तर को गलत समझता हूँ।

लेकिन पहले मैं यह सिद्ध करूँ कि मैं "त्यागपत्र" की कमियों के प्रति अचेत नहीं हूँ।

कल शुरू करते ही लगा कि इस लेखक में कुछ "मैनरिज़्म" है, शायद बंगाल के किसी लेखक या लेखकों का अज्ञात प्रभाव है। जैसे—पर नहीं, उस 'दो !'—के मुँह में नहीं बदना होगा—इत्यादि (दूसरा पृष्ठ); ऐसी व्यंजनाएँ व्यर्थ ही हमें आकृष्ट करके चौंकाती हैं।

"त्यागपत्र" में कथानक छोटा ही है जो काफ़ी चतुराई से क्रमशः खोला गया है। कथा की दृष्टि से एक-दो स्थूल कमज़ोर हैं। मृणाल, पति से स्वयं कहती है—'कि मुझे आप चाहें तो घर में से दूर कर सकते हैं।' (पृष्ठ ५१)। यह अविश्वसनीय लगता है। मायके न जाना भी वैसा ही है—क्योंकि स्नेह का ऐसा अभाव वहाँ न था। मायके न जाकर वह एक ऐसे व्यक्ति के साथ चली जाती है जिसके बारे में वह निश्चय जानती है कि वह उसे जरूर छोड़ देगा। जैसे वह अपने को संकट में डालने पर तुली हो! कोयलेवाला उसमें बुरी तरह आसक्त है, अतः वह करुणा कर उसके साथ चल देती है। उस समय वह उस व्यक्ति के परिवार के बारे में बिलकुल ही नहीं सोचती—वैसे कहीं-कहीं जरूरत से ज्यादा सोचती मालूम पड़ती है।

वास्तव में जैनेन्द्र की कला का विशेष महत्त्व इसमें नहीं है कि वे जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण करते हैं, यद्यपि कहीं-कहीं उनके मनोवैज्ञानिक चित्र हमें मुग्ध करते हैं। ये चित्र आवश्यक रूप में कथा के मर्मस्थलों से सम्बद्ध नहीं होते—कम से कम "त्यागपत्र" में नहीं है। प्रमोद के बाल-दर्प की जहाँ-तहाँ अच्छी विवृति है, पर बुआ के जीवन के मर्म-प्रसंग, जहाँ उनके जीवन की दिशा बदलती है, प्रायः सपेक्षित ही हैं।

अब हम ज्यादा महत्त्वपूर्ण शिकायत पर आएँ। जैनेन्द्र का चिन्तन दिशाहीन है, वे क्रान्तिकारी नहीं हैं।

'भवितव्य ही होता है। नियत का लेख बँधा है।......ज्ञानी जन कह गये हैं कि परम कल्याणमय ही इस सृष्टि में अपनी परम लीला का विस्तार कर रहा है।' और 'लीला तेरी है, जीते मरते हम हैं। क्यों?' उत्तर नीरव भाषा में सदा मुखरित है।......जो जैसा जानता है, वैसा ही पढ़े। वह उत्तर कभी चुकता नहीं। अखिल सृष्टि स्वयं में उत्तर ही तो है।'

ये बातें व्यंग्य से नहीं, पूरी गम्भीरता से कही गई हैं। वे लेखक की मा
तायें हैं। और भी—'सचाई तो छोटा बनने में है, निरीह बनने में, व
बनने में है।'………'कि भीतर का दर्द मेरा इष्ट हो। धन न चाहूँ,
चाहूँ। धन मैल है, मन का दर्द पीयूष है।'…'उस दर्द की साभार स्वीकृ
में से ज्ञान की और सत्य की ज्योति प्रकट होगी।' (पृ० ३६–३८)

ऐसी मान्यताएँ क्रान्ति की, कुछ करने की, प्रेरणा नहीं देतीं। ऊपर
'हल' सुझाये गये हैं वे अकर्मण्य भावुकता के सस्ते हल जान पड़ते हैं।
'मन का दर्द', 'सत्य' और ज्ञान की ज्योति'—शायद लेखक ने कभी इ
शब्दों का स्पष्ट अर्थ सोचने की कोशिश नहीं की। तभी तो उसे उनक
मोह है।

मृणाल कहती है—'मैं समाज को तोड़ना फोड़ना नहीं चाहती हूँ
समाज टूटी कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे।' और वह प्रमोद को, जि
पर समाज की प्रतिष्ठा का जिम्मा है, अपने पास न आने की सलाह देत
है। क्रान्ति का रास्ता खतरनाक रास्ता है, लगता है जैसे लेखक सामाजिक
उथल-पुथल की सम्भावना से ग्रस्त है। उसके चिन्तन में ये पलायन
के तत्व हैं।

'सुनीता' में भी लेखक ने समस्या से पलायन किया है। यदि असा-
धारण सुनीता और असाधारण हरिप्रसन्न में प्रेम ही हो तो! सुनीता पति
श्रीकान्त का चित्र पूजने के बाद हरिप्रसन्न के साथ जाती है। जैनेन्द्र "मौजूदा
स्थिति" अथवा स्वीकृत मर्यादाओं के पक्के समर्थक हैं!

पर शायद इतने नहीं। वस्तुतः जैनेन्द्र व्यक्तिवादी हैं। भारतीय सन्तों
और गान्धी जी की भाँति वे व्यक्ति के सुधार में विश्वास रखते हैं। वे यत्र-तत्र
व्यक्ति को राह दिखाने की चेष्टा करते हैं—ऐसे व्यक्ति को जिसका कलेजा
प्रमोद से अधिक दृढ़ है। सामाजिक उथल-पुथल से वे घबराते हैं, पर यदि
व्यक्ति नये प्रयोग करना चाहे तो उन्हें एतराज़ नहीं। 'जो उस (समाज)
से उच्छिन्न बनना पसन्द कर सकते हैं, उन्हीं को जीवन के साथ नये प्रयोग
करने की छूट हो सकती है।'

हमने कहा कि जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण
जैनेन्द्र की कला का सबल पक्ष नहीं है, वह लेखक का लक्ष्य भी नहीं है।
उनकी कला का लक्ष्य है, जीवन की झलक मात्र दिखाते हुए पाठक को
गहरे आत्म-चिन्तन में लीन करना।

इसलिये उनके उपन्यास, भाषा की कृत्रिम सरलता के बावजूद, चिन्ता-
हीन पाठकों को ही कठिन लग सकते हैं।

और मैं कहना चाहता हूँ कि ऐसे पाठकों के लिये उनके उपन्यास असाधारण रूप में रोचक और महत्वशाली हैं।

'त्यागपत्र' में लेखक ने न जाने कितनी समस्याओं का संकेत कर डाला है। लेखक की पैनी दृष्टि में जीवन इतना अधिक जटिल है, इतने प्रश्नों और विषमताओं से संकुल, इतनी मान्यताओं और रूढ़ियों से बोझिल, इतनी दुर्बलताओं से लदा हुआ—कि वह उसे सुधारने की कल्पना तक नहीं कर सकता। क्रान्ति का आवेश उसे हास्यास्पद लगता है, दर्द भरे मन से जीवन का अनुचिन्तन, कर्म जगत के शोर-गुल से पलायन, यही उसे एक मात्र समाधान दीखता है।

मृणाल करुणावश अपने पर मोहित अतएव परेशान कोयलेवाले को समर्पण कर देती है, इसमें वह पाप क्या करती है? करुणा तो पाप नहीं है। यदि संसार की सब सुन्दरियाँ इतनी सदय होतीं तब? हाँ सब क्या संसार रसातल को चला जाता? मनुष्य की भोगवृत्ति बढ़ जाती यही न? क्या इससे खराब चीजें इस दुनिया में नहीं हो रही हैं?

मृणाल "नीचे दर्जे के" लोगों में जाकर रहती है जहाँ खुल कर अश्लीलता की बातें होती हैं। वही विकार तो, प्रच्छन्न रूप में, सभ्य लोगों में भी अभिव्यक्त होते हैं, फिर······?

जैनेन्द्र किसी एक समस्या का समाधान देने का प्रयत्न नहीं करते इसका कारण यह भी है कि उन्हें असंख्य समस्यायें दीखती हैं, असंख्य प्रश्न; मानों जीवन समस्याओं और प्रश्न-चिन्हों का ही समुदाय हो। इतनी समस्याओं के सुलझाने की आशा कहाँ तक की जाय? 'कहीं क्यों, सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि गलत है। समाज गलत है। जीवन ही हमारा गलत है। सारा चक्कर यह ऊटपटाँग है। इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है।' और आगे—'इससे जरूर कुछ होना होगा, जरूर कुछ करना होगा। पर क्या आ? वह क्या है जो भवितव्य है, जो कर्तव्य है!' (पृ० ६३)

प्रमोद को 'कोई बात पकड़े न मिलती थी और मन घुट-घुट कर रह जाता था।' संक्षेप में, यही भावना लेखक में काम करती है। प्रमोद का अन्त में विरक्त बन जाना लेखक की इसी वृत्ति का द्योतक है।

फलतः जो जैनेन्द्र की कृतियों में विशिष्ट समस्याओं को लेकर उनके समाधान खोजेंगे उन्हें निराशा होना पड़ेगा। जैनेन्द्र को जीवन के प्रश्नों में दिलचस्पी है, युग-विशेष की समस्याओं में नहीं। उनके उठाये प्रश्नों में एक प्रकार की चिरन्तनता है—वे शीघ्र ही हल होने या पुराने पड़नेवाले नहीं हैं।

इस दृष्टि से जैनेन्द्र की प्रतिभा अप्रतिद्वन्द्विनी है। बौद्धिक गहनता

और नैतिक सूक्ष्म विश्लेषण में, शायद, हमारे देश का कोई अन्य उनकी समता नहीं कर सकता। उनकी दृष्टि और कला युग-युग की वि और वेदना में प्रतिष्ठित है।

जैनेन्द्र की दार्शनिक दृष्टि में जीवन की गहन गम्भीर जटिलता प्रश्नों का अनुचिन्तन अपने में एक महनीय व्यापार है, और हमारी प शक्तियों के लिये पर्याप्त भी। 'समन्दर के अगाध फैलाव की ओर हम लिया करें, यही क्या कम है? इतना भी बहुत है, बहुत है। इस भीतर कम्प भर आता है। चित्त सहम जाता है। सिर चकरा जाता झेला नहीं जाता।' और 'जितनी झेल सकें उतनी ही उस विराट् की ले लें और फिर''''''यही मानव जीवन है।'

मानव-जीवन के इसी अंश को उदात्त और समृद्ध बनाने के जैनेन्द्र की कला है।

जैनेन्द्र पर लिखते हुए प्रस्तुत लेखक को महसूस होता है कि वह धरातल पर चल रहा है। वे सचमुच एक असाधारण लेखक हैं। वि ऐसे विचारोत्तेजक लेखक थोड़े ही हैं।

(जून, १९५०)

दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' †

'कुरुक्षेत्र', दिनकर की अभिनव रचना, एक खंडकाव्य है। हमारा अनुमान है कि वह दिनकर की सर्वश्रेष्ठ कृति समझी गयी है, और है। आधुनिक हिंदी कवियों की सर्वश्रेष्ठ समझी जानेवाली रचनाएँ—'कामायनी' 'साकेत' और अब 'कुरुक्षेत्र'—मुक्तक न होकर प्रबन्ध रूप हैं, यह क्या आकस्मिक बात है ? अथवा इसका कोई गूढ़ आलोचनात्मक रहस्य है ?

बात यह है कि विश्व की घटनाओं की भाँति जीवन के मूल्यों को भी—जिनका काव्य-साहित्य में उद्घाटन होता है—हम सम्बद्ध रूप में देखना या अनुभव करना पसंद करते हैं। इसीलिए विज्ञान और दर्शन की भाँति कथात्मक साहित्य की प्रवृत्ति भी चिरंतन है। किसी प्रबन्ध-काव्य अथवा उपन्यास के पात्रों के जीवन में ही विभिन्न सांस्कृतिक समस्याएँ जीते-जागते रूप में पाठकों के सामने आती हैं। कोरे चिंतनात्मक दार्शनिक ग्रंथों की समस्याएँ, अधिकांश लोगों के लिए, उतना आकर्षण नहीं रखतीं। यही कारण है कि हमें दर्जनों दार्शनिक प्रश्नों की अपेक्षा भारत-युद्ध के पहले के अर्जुन तथा उसके बाद के युधिष्ठिर के प्रश्न और संदेह भीषण सार्थकता रखते प्रतीत होते हैं।

इसलिये हम दिनकर के इस वक्तव्य से सहमत नहीं कि 'मुझे जो कुछ कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था।' वस्तुतः मुक्तककाव्य तीव्र किंतु सरल प्रतीतियों एवं उच्छ्वासों के लिये उपयुक्त माध्यम है, समस्या-मूलक विमर्श या चिंतन के लिए नहीं। गीत-बद्ध चिंतन में भी आवेगात्मक प्रतिक्रिया का प्राधान्य होगा; वहाँ बौद्धिक जटिलता के लिए गुंजाइश नहीं है। पंत का 'परिवर्तन' गीतात्मक चिंतन का उदाहरण हो सकता है। खैयाम की 'रुबाइयाँ' भी अपेक्षाकृत सरल चिंतन का ही, जो सीधे राग-विरागों से सहचरित है, पुट दे सकी हैं।

आधुनिक जटिल युग में यह अनिवार्य है कि साहित्यकार जीवन के प्रश्नों पर सोचे। आज का मनुष्य जीवन के यथार्थ और आदर्श दोनों ही प्रकार के पूर्ण चित्र देखने को उत्सुक है। जीवन की वास्तविकता और

† प्रतीक, १९४८

सांस्कृतिक दिशा दोनों ही के प्रति उसका तीव्र जिज्ञासा मात्र है। अवश्य 'कुरुक्षेत्र' जीवन की अनेक और विविध समस्याओं का चित्रण या समा प्रस्तुत नहीं करता, किंतु उसने जिस प्रश्न को उठाया है वह अत्यन्त स यिक, पर साथ ही, मानव-इतिहास की दृष्टि से, चिरंतन है। गाँधीवाद प्रभाव में पली हुई, तथा विश्वव्यापी युद्धों से ऊबी हुई, जनता के स कवि दिनकर ने युद्ध की आवश्यकीयता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

काव्य के पात्रों का चुनाव, उसका आधारभूत कथानक, बहुत ही उ युक्त है। गाँधीवाद के विरुद्ध में महाभारत के प्रसिद्ध वीर और विवेकी पितामह भीष्म को खड़ा करना काव्यगत प्रयोजन के लिए प्रबल आध सिद्ध हुआ है।

स्पष्ट ही 'कुरुक्षेत्र' एक समस्यामूलक काव्य है। वह विचार-प्रधा है, इसलिए पाठक का ध्यान बरबस उसके युक्ति-क्रम पर जाता है काव्य के अधिकांश विचार उसके पात्रों के मुख में रखे गये हैं, और य उचित भी है। कथात्मक साहित्य में सन्निविष्ट चिंतन को उसके पात्रों क जीवन से संबद्ध होना चाहिए। 'कुरुक्षेत्र' का अधिकांश चिंतन इसी प्रका का है, वह पात्रों के व्यक्तित्व तथा चरित्र से सम्बन्ध रखता है। किंतु कहीं कहीं पात्रों के जीवन से असंबद्ध विचारों का, लेखक की ओर से भी, सन्नि वेश कर दिया गया है, जो खटकता है। छठवाँ सर्ग समग्र ऐसा ही प्रक्षेप है, और काव्य का आरम्भ भी स्वयं कवि के विचारों से होता है। कवि का यह हस्तक्षेप कथा की वास्तविकता के भ्रम को भंग करने का कारण बन जाता है। हमारी सम्मति में काव्य का आरम्भ अधिक समुचित नहीं हुआ है, यद्यपि उसका उत्तरार्द्ध खराब नहीं है। संभवतः (महाभारत के स्त्री-पर्व के समान) युद्धजनित शून्यता तथा क्रंदन का प्रभविष्णु वर्णन— युधिष्ठिर द्वारा उसका अनुचिंतन और आकलन—अधिक शक्तिशाली आरम्भ होता। इसके विपरीत, रोती हुई सहस्रों स्त्रियों को भूलकर, कवि का यह कहना, कि "कौरवों की चिता के सामने रोने के लिए एक वृद्धा और एक अंधे के सिवाय कोई नहीं रह गया था' (पृ० ४) कुछ विचित्र लगता है। युद्ध-संबन्धी तर्क-वितर्क, युधिष्ठिर के पश्चात्ताप भरे उद्गारों के विरुद्ध उसका भीष्म द्वारा मंडन, क्रमशः उच्चतर धरातलों पर आरूढ़ होता गया है। अतः जहाँ काव्य के पूर्वार्द्ध में हमें कवि से सस्ती भावुकता की शिकायत हो सकती है वहाँ उसका उत्तरार्द्ध हमारी सांस्कृतिक बुद्धि को असंतुष्ट नहीं छोड़ता। पूर्वार्द्ध में भीष्म एक अचिंतनशील उत्साही वीर की भाँति बोलते हैं :—

कायरों सी बात कर मुझको जला मत, आज तक
है रहा आदर्श मेरा वीरता, बलिदान ही
और,
शूर-धर्म है यहाँ दहकते अंगारों पर चलना,
शूर धर्म है शोणित असि पर धर कर पाँव मचलना।

भीष्म की इस प्रकार की उक्तियाँ उनके चरित्र से विसंगत नहीं मालूम पड़तीं, विशेषतः जब वे द्रौपदी के अपमान की याद करके अपने वीर-चरित पर प्रश्न करते तथा वीरता को विवेक के तिरस्कार का उपदेश देते हैं। किंतु फिर भी हमें लगता है कि कवि ने इस मती, वृद्ध ब्रह्मचारी के मुख से कुछ ज्यादा सस्ती उक्तियाँ कहला डाली हैं—

जिनकी भुजाओं की शिराएँ फड़की ही नहीं
जिनके लहू में नहीं वेग है अनल का
... ...
जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है
बैठते भरोसा किये वे ही आत्मबल का

भीष्म के द्वारा आत्म-चरित की पर्यालोचना (चतुर्थ सर्ग) करा के कवि ने यह सिद्ध किया है कि वह, समस्या से उलझता हुआ भी, चरित्र-चित्रण के प्रति उदासीन नहीं है। भीष्म ने जीवन भर स्नेह के दावे का तिरस्कार किया है; उन्होंने अनुरक्त रमणी की उपेक्षा की थी, और द्रौपदी के अपमान के समय भी वे स्नेहवृत्ति के प्रति सहज समर्पण न करके नीति सोचते रहे। युद्ध में भी वे शुष्क नैतिकता द्वारा परिचालित हुए और स्नेह-भाजन पांडवों का साथ न दे सके; इसी कारण वह आज युधिष्ठिर को नैतिकता एवं विवेक भूलने का उपदेश दे रहे हैं।

किंतु युधिष्ठिर का अनुताप-गर्भ संदेह साधारण नहीं; वह कोरी भावुकता से संतुष्ट नहीं होते। उनका शंका-मूलक प्रत्युत्तर बड़े ओजस्वी रूप में व्यक्त हुआ है।

द्रुपदा के पराभव का बदला कर देश का नाश चुकाना था क्या?
... ...
मिट जाय समस्त महीतल क्योंकि किसी ने किया अपमान किसी का?

इस संदेह का समाधान नैतिक चिन्तन के ऊँचे धरातल पर ही हो सकता है।

युद्ध के पक्ष में भीष्म के तर्क अनेक और विविध हैं। इन तर्कों में असंगतियाँ भी ढूँढ ली जा सकती हैं और कहीं-कहीं उद्घाटन भी। किंतु एक बात जिससे इंकार नहीं किया जा सकता, है—भीष्म की यथार्थोन्मुख दृष्टि।

महाभारत का युद्ध अन्याय के प्रतिकार और प्रतिशोध का युद्ध था, 'कुरु' में उसे क्रांतिकारी युद्ध का रूप दे दिया गया है।

इस युद्ध का समर्थन भीष्म प्रथमतः युधिष्ठिर के व्यक्तिगत दृष्टि अथवा मानव-स्वभाव की वास्तविकता के अनुरोध से करते हैं। युधिष्ठिर का अनुताप केवल अचिंतित या उत्तेजित भावुकता मात्र होता वह उससे संतुष्ट हो जाते। पर वह जानते थे कि वह युद्ध सामूहिक क्रांति अधिक व्यक्तिगत प्रतिशोध की अभिव्यक्ति था, इसीलिए उनका हृदय श समाहित न हो सका।

यहाँ प्रसंगवश हम कह दें कि 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म मानवीय मानस-शा के कुशल जानकार हैं। चौथे सर्ग में उन्होंने बड़े विस्तार से युधिष्ठिर समझाया है कि विजित राजा विजयी सम्राट् के प्रति कभी हार्दिक समर्प नहीं कर सकते—

धर्मराज ! कोई न चाहता
अहंकार निज खोना
किसी अपर सत्ता के सम्मुख
सन्मन से नत होना।
कोई मंद मृदुमति नृप ही
होता तुष्ट वचन से
विजयी की शिष्टता विनय से
अरि के आलिंगन से।

भीष्म की मनोवैज्ञानिक दृष्टि सराहनीय है, यद्यपि यह निर्देश युधिष्ठिर के युद्धायोजन का मंडन न करके उनकी चक्रवर्ती सम्राट् कहलाने की भावना के विरुद्ध पड़ता है।

युधिष्ठिर का अंतिम समाधान करने का उपक्रम करते हुए भीष्म पहले उनके नैराश्य-तम को अखंड आशावाद की किरणों से विच्छिन्न करते हैं। उनके शब्दों में एक क्रांन्त-दर्शी युग-पुरुष का ओज है जो ध्वंस की चिता पर खड़े होकर भी निर्माण की शंख-ध्वनि सुनता है—

द्वापर समाप्त हो रहा है धर्मराज देखो
लहर समेटने लगा है एक पारावार

... ...

गल ही अचेत हो गिरा है मृत्यु-गोद-बीच
निकट मनुष्य के अनागत रहा पुकार

❀ ❀ ❀

> मृत्ति के अधूरे, स्थूल भाग ही मिटे हैं यहाँ
> नर का जला है नहीं भाग्य इस रण में
> शोणित में डूबा है मनुष्य, मनुजत्व नहीं,

इत्यादि। इसके बाद भीष्म ने युधिष्ठिर की शंकाओं का जो समाधान प्रस्तुत किया है वह गीता की परिचित नैष्कर्म्य-शिक्षा से भिन्न नहीं है। कवि ने उक्त शिक्षा के साथ वर्तमान मानववाद का भी सम्मिश्रण कर दिया है—

> निज को ही देखो न युधिष्ठिर
> देखो निखिल भुवन को
> स्ववत् शांति-सुख की ईहा में
> निरत, व्यग्र जन-जन को
> ... ...
> स्यात्, दुःख में कहीं तुम्हें
> निर्जन में मिले किनारा
> शरण कहाँ पायेगा पर यह
> दह्यमान जग सारा।

और—

> पोंछो अश्रु, उठो, द्रुत जाओ
> वन में नहीं, भुवन में
> होओ खड़े असंख्य नरों की—
> आशा बन जीवन में।
> ... ...
> बुला रहा निष्काम कर्म वह
> बुला रही है गीता
> बुला रही है तुम्हें आर्त्त हो
> मही समर-संभीता।

'कुरुक्षेत्र' का अन्तिम निष्कर्ष गीता के इस निष्कर्ष से भिन्न नहीं है कि कर्म—जिसमें युद्ध और संघर्ष सम्मिलित हैं—त्याज्य नहीं किंतु उसके पीछे 'लोक-संग्रह' अर्थात् मानवता की निष्काम सेवा की भावना होनी चाहिये। इस प्रकार 'मिट्टी की ओर' के समर्थक लेखक की सर्वश्रेष्ठ कृति का पर्य्यवसान द्वन्द्वात्मक अथवा अन्य किसी प्रकार के जड़वाद में नहीं, बल्कि गीता के कर्ममूलक अध्यात्मवाद में हुआ है।

'कुरुक्षेत्र' की तर्क-पद्धति में कहीं-कहीं पुनरुक्ति और निविड़ता का अभाव खलता है; भीष्म के विभिन्न दृष्टियों से दिये गये युद्धपक्षी तर्कों का

सामंजस्य भी झलकता है। यह भी कहा जा सकता है कि दिनक
कविता भाव और व्यंजना की उन ऊँचाइयों तक कम पहुँच पाती है
'प्रसाद', 'निराला' और 'पंत' की श्रेष्ठतम रचनाएँ पहुँच गई है।
'कुरुक्षेत्र' की काव्य-रचना में काव्य-सौष्ठव है एक ही धरातल का जि
समें निर्वाह किया गया है वैसा किसी भी छायावादी कृति में नहीं हो
है। फलतः जहाँ 'प्रसाद' और 'निराला' की महत्ता उनकी अल्प-सं
श्रेष्ठ रचनाओं पर निर्भर है वहाँ 'दिनकर' का महत्व उस कृति में
प्रतिफलित है।

'कुरुक्षेत्र' की कविता का सामान्य धरातल खड़ी बोली के श्रेष्ठ काव्य
धरातल है। विचार-प्रधान होते हुए भी 'कुरुक्षेत्र' न तो अमूर्त हो पाया
न धुँधला या अस्पष्ट। यह दिनकर की निर्माण-कुशलता का ज्वलंत प्र
है। उनकी अनुभूति सर्वांश में प्रकृत काव्यात्मक अनुभूति है, और उ
अभिव्यक्ति वैसी ही हुई है। इस दृष्टि से 'कुरुक्षेत्र' का कवि 'कामायनी'
प्रणेता से अधिक सफल हुआ है। वस्तुतः अमूर्त विचारों का समा
काव्य या कवि-विशेष के लिए कोई श्लाघा की बात नहीं है, क्योंकि वि
का साहित्य असंख्य विचारों से ओतप्रोत है और उन्हें वहाँ से उठा ले
कठिन नहीं है। किंतु विचारों को जीवन-संबद्ध मूर्त रूप देना, उन्हें जी
चित्रों के रूप में उतार देना, दुष्कर है। यही कवि का प्रकृत काम है क
यह ऐसा कार्य है जहाँ अमूर्त चिंतकों से विशेष सहायता नहीं मिल सकती
दिनकर अपने विचारों को बड़े प्राणवान्, बल्कि प्रज्वलित रूप में प्रकाशि
कर सकते हैं, यह उनकी बहुत बड़ी विशेषता है।

> यह मनुज, जिसका गगन में जा रहा है यान
> काँपते जिसके करों को देखकर परमाणु;
> खोलकर अपना हृदय गिरि, सिन्धु, भू, आकाश
> हैं सुना जिसको चुके निज गुह्यतम इतिहास।
>
> ... ...
>
> एक लघु हस्तामलक यह भूमि-मण्डल गोल
> मानवों ने पढ़ लिये सब पृष्ठ जिसके खोल।

वस्तुतः जीवन से विच्छिन्न अमूर्त चिंतन का, फिर चाहे वह कितना ही गहन-गंभीर क्यों न हो, साहित्य में कोई स्थान नहीं है; दर्शन-ग्रंथों में भले ही उसका महत्व हो। 'कुरुक्षेत्र' का कवि न ऐसे चिंतन से आतंकित है, और न उसका अनुरागी। वह जानता है कि मनुष्यता, मानवोचित कोमलता, ऐसे ज्ञान और चिंतन से कहीं अधिक ऊँची चीज़ है—

चाहिये उनको न केवल ज्ञान
देवता हैं माँगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान,
मोम - सी कोई मुलायम चीज
ताप पाकर जो उठे मन में पसीज पसीज।

दिनकर की वाणी में हिन्दी कविता छायावादी धुंध और कुहासे से निकल कर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर विशद ओज से अवतरित हुई है। उसका संगीत और संदेश दोनों भूषण की याद दिलाते हैं, यद्यपि उसकी सांस्कृतिक दृष्टि उक्त मध्ययुगीन कवि से अधिक व्यापक और उदात्त है। 'दिनकर' ने हिन्दी के राष्ट्रीय छंदों, कवित्त और सवैया का भी काफी सफल प्रयोग किया है। क्या हम आशा करें कि वे अपनी पूर्ण विकसित शक्तियों से अब राष्ट्रभाषा को एक महाकाव्य भेंट करने का आयोजन करेंगे!

छायावादी कवियों का कृतित्व

विषय-प्रवेश

जिन्होंने हमारी पुस्तक "छायावाद का पतन" पढ़ी है उन्हें
निबन्ध अवश्य ही पढ़ना चाहिए ताकि वे हमारे छायावाद-सम्बन्धी वि
को समग्रता में देख सकें। यह निबन्ध उक्त पुस्तक का स्थानापन्न न होते
बहुत हद तक उसका पूरक है। इसका यह अर्थ नहीं कि तब से अब
हमारी दृष्टि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है; स्वभावतः अवस्था-वृद्धि
रस-संवेदना के विकास के साथ निर्णय-बुद्धि अधिक सन्तुलित होना सी
है। मुख्य भेद यह है कि जहाँ उक्त पुस्तक लिखते समय हमारा
प्रधानतया छायावाद की उन अशक्तियोंपर था जो उसके निराकरण या लोप
कारण हुईं वहाँ प्रस्तुत निबन्ध में हम उसकी उन लब्धियों का विश्ले
करने की चेष्टा करेंगे जो छायावादी काव्य को हमारे साहित्य का उल्लेख
अध्याय बनाती हैं। छायावाद को विस्तृत ऐतिहासिक पीठिका में देखने
प्रयत्न करते हुए हमें उसकी प्रशस्ति और निन्दा दोनों ही में अनावश
गरमी प्रकट करने की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

अतीत साहित्य को—और छायावाद मेरी दृष्टि में अब निकट अत
की वस्तु है—हम किस प्रकार आँकें? ऐतिहासिक एवं सामाजशास्त्रीय आल
चना यह बताने का प्रयत्न करती है कि युग-विशेष में किसी देश के साहि
ने एक विशिष्ट रूप क्यों धारण किया—उसका अपने देश-काल से क
सम्बन्ध था। भौतिक घटनाओं की भाँति सांस्कृतिक घटनाएँ या प्रयत्न
विशिष्ट परिस्थितियों में जन्म लेते हैं किन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र में
परिस्थितियों के ज्ञान से जहाँ हमारा बोध समृद्ध होता है, वहाँ वह
निःशेष नहीं हो जाता। यही नहीं, मूल्यांकन करते समय हम परिस्थितियों
बहुत-कुछ भूल भी जाते हैं। कला और चिंतन के क्षेत्र में हम जिन चीजों
महत्त्व देते हैं वे जातीय होते हुए भी व्यक्तिगत होती हैं—तभी तो हम एक
देश-काल के दो कवियों में एक को अधिक बड़ा कह पाते हैं। ऐतिहासिक
सामाजिक दृष्टि एक देश-काल के कवियों के सामान्य रूप को समझ सकती
है; उनके विशिष्ट रूपों को समझने के लिए दूसरी दृष्टि अपेक्षित होगी।

हम कहना चाहते हैं कि यह दूसरी दृष्टि प्रत्येक युग (और कुछ हद तक प्रत्येक महत्वपूर्ण आलोचक) की अपनी दृष्टि होती है। अतः प्रत्येक युग में समस्त प्राचीन साहित्य के नये मूल्यांकन के लिये अवकाश रहता है। कवि टी० एस० इलियट द्वारा की गई आलोचनाएँ इसका उज्ज्वल निदर्शन हैं।

छायावाद के समसामयिक आलोचकों ने उसे जिस रूप में देखा उस रूप में उसे बाद की पीढ़ियों के आलोचक नहीं देख सकेंगे। समसामयिक समर्थक आलोचकों ने छायावाद को रहस्यवाद कहकर, आध्यात्मिक कहकर, और इस प्रकार रीतिकाल की तुलना में उसके सांस्कृतिक धरातल को उच्च कह कर उसकी प्रशंसा की। हमारा दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है।

छायावाद का जन्म-काल देश में गान्धीजी के नेतृत्व एवं राष्ट्रभावना के प्रसार का समय था। उस समय शृंगारी काव्य ग्राह्य नहीं हो सकता था। सांस्कृतिक दृष्टि से वह समय नैतिक आह्वान और रीतिकाल की निन्दा के लिए उपयुक्त था। अतः छायावाद के लिये, जो मुख्यतः सौन्दर्य और प्रेम का काव्य था, रहस्यवाद का आवरण ग्रहण करना पड़ा। इस आच्छादन के कारण उसकी ऐन्द्रिय अभिव्यक्ति दुर्बल हो गई। रहस्यवाद का अवलम्ब उसकी सम्वेदना को संकुचित एवं अशक्त बनाने का हेतु बन गया। दूसरी दिशाओं में कुछ लाभ भी हुआ।

द्विवेदी युग की नीति-भावना पौराणिक रूढ़ियों में बद्धमूल थी; छायावादी कवि आधुनिक मनोवृत्ति के थे, फलतः उन्हें वह रुचिकर न हुई। इसके विपरीत उन्होंने जगह-जगह युगानुकूल व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की माँग की; पन्त में कम और बच्चन में अधिक यह माँग जहाँ तहाँ प्रतिफलित है। †

छायावादी कवि युग से प्रभावित थे और रवीन्द्र से; फलतः उनके काव्य में लोक-परक मानववाद की गूँज है। रवीन्द्र और छायावादी काव्य दोनों में उस समृद्ध युगोचित नैतिक चेतना का अभाव है जो किसी जाति के चरित्र को बल देती है। इस प्रकार की नैतिक चेतना संस्कृत कवियों में ही पाई जाती है।

वस्तुतः छायावाद में जीवन के केवल वैयक्तिक पक्षों की विवृति हुई है; तुलसीदास सामाजिक पक्ष की विवृति में अधिक सफल हुए हैं। इसके विपरीत कालिदास की वाणी जीवन के प्रत्येक पक्ष का सफल उद्घाटन करती है। प्रकृति अथवा सौन्दर्य-चित्रण में जहाँ रवीन्द्र कठिनता से कालिदास की बराबरी कर सकते हैं, वहाँ, शायद, सुकुमार प्रेम-भावना के प्रकाशन में वे कालिदास से श्रेष्ठ हैं। मानवीय सम्बन्धों की विवृति में रवीन्द्र से कालिदास और कालिदास से शेक्सपियर एवं टॉल्स्टॉय श्रेष्ठतर हैं।

† विस्तार के लिए देखिए, 'छायावाद का पतन', भूमिका।

महाकवियों से भिन्न श्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में बिहारी और विद्याप[illegible] स्थान प्रथम पंक्ति में होगा। इसी श्रेणी में कहीं हमारे श्रेष्ठ छायावादी भी स्थान ग्रहण कर सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

प्रत्येक कलाकार के सम्बन्ध में आलोचक को पूछना चाहिए—[illegible] और जगत में प्रसरित यथार्थ के किस महत्वपूर्ण पहलू को वह हमारे प्रत्यक्ष कर सका है, किन नूतन छवियों एवं भावनाओं के आकलन [illegible] उसने हमारी रागबोधात्मक चेतना को समृद्ध किया है? इसी जिज्ञास[illegible] आलोक में हम तीन छायावादी कवियों के कृतित्व का मूल्यांकन करेंगे।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

प्रायः दस वर्ष पूर्व प्रयाग में जब प्रस्तुत लेखक ने पहली बार हि[illegible] साहित्य की आलोचनात्मक अवगति प्राप्त करने की चेष्टा की तो उसने अ[illegible] को जिन मान्यताओं के वातावरण में पाया उनमें एक यह थी कि पन्त छायावाद के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। प्रयाग के शिक्षित युवकों का, विश्वविद्याल[illegible] के विद्यार्थियों का, उस समय यह सहज विश्वास-सा था। उस समय छाय[illegible]वादी कवियों में पन्तजी सब से अधिक लोकप्रिय थे।

इसका कारण था। छायावादी कवियों में पन्तजी सबसे अधिक बो[illegible]गम्य रहे हैं। दूसरे, उनकी तब तक प्रसिद्ध कृतियों में ठीक उन भावना[illegible] का प्रकाशन था जो वयःसन्धि प्राप्त युवा-युवतियों को आन्दोलित करती हैं।

पन्तजी मुख्यतः सौन्दर्य के कवि हैं, प्रकृति-सौन्दर्य के और उसके बाद नारी-सौन्दर्य एवं उस सौन्दर्य से उत्थापित आकर्षण-भावना के। प्रकृति पन्[illegible] की सौन्दर्य-दृष्टि का सहज आलम्बन है, उनकी वाणी का सहज विषय[illegible] यह बात महादेवी और प्रसाद के बारे उस हद तक सत्य नहीं है। महादेव[illegible] जी ने प्रकृति का उपयोग प्रायः आत्मनिष्ठ भावनाओं को साकार करने में किया है, और वहाँ प्रयुक्त सामग्री अपेक्षाकृत परिमित है; प्रसाद भी प्रकृति की उपस्थिति में उस सहज उल्लास का अनुभव नहीं करते जो पन्त की भाव-चेतना की विशेषता है।

वयःसन्धि में भावुक हृदय बाह्य सौन्दर्य की झलक मात्र से आलोड़ित हो उठता है, 'पल्लव' और 'गुंजन' में प्रायः आपको इस प्रकार की झलकें ही मिलती हैं। सूक्ष्म विश्लेषणात्मक वर्णन की प्रवृत्ति यहाँ नहीं है, यहाँ बाह्य का निरीक्षण अन्तर के उल्लास से मिश्रित और निरूपित है। महादेवी और प्रसाद की भाँति पन्त अपने पाठकों को गुम्फन की अनावश्यक सूक्ष्मता से नहीं थकाते।

'पल्लव' और 'गुंजन' के कलात्मक सौष्ठव का प्रधान उपादान इन

झलकों की प्रचुर नूतनता है। पल्लव, पुष्प, शैल, निर्झर, लहरें, खग, भ्रमर सब में कवि की अपार ममता है और उक्त कृतियों में हमें रूप-रंगों की जैसी मनोरम और विस्तृत चित्रावली मिलती है वैसी, छायावादी काव्य में, अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

पन्त की सौन्दर्य-दृष्टि की प्रधान विशेषता है—कोमलता; प्रकृति एवं नारी की सुकुमार-कोमल छवियों से उन्हें सहज ममत्व है। 'अरे ये पल्लव बाल,' 'अरी सलिल की लोल हिलोर,' 'सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि मुझे भी अपने मीठे गान' आदि पंक्तियाँ उनके हृदय की सहज कोमलता को व्यक्त करती हैं। नारी-रूप के वर्णन में भी यह कोमलता सर्वत्र प्रतिफलित है—'तुम्हारे नयनों का आकाश, सजल श्यामल अकूल आकाश' और 'नील रेशमी तम का कोमल खोल लोल कचभार' इत्यादि। कलियों और लहरों की भाँति 'रेशमी' विशेषण भी, कोमलता का वाहक होने के कारण, कवि को विशेष प्रिय है। ज्योत्स्ना में सान्ध्य प्रकाश को जहाँ-तहाँ बड़े कोमल स्पर्शों से चित्रित किया गया है। 'प्रिये प्राणों की प्राण', 'आज रहने दो यह गृह काज' आदि व्यंजनायें भी कवि की अपार कोमलता का परिचय देती हैं। काश कि कोई भाग्यशालिनी नारी इस हृदय के प्रेम का उपभोग कर पाती!

पन्त की वर्ण तथा ध्वनि-संवेदना विशेष विकसित है और उनमें मूर्त्त चित्र-विधान की अपूर्व क्षमता है। ये चीजें उनके प्रकृति-वर्णनों को साकार और सजीव बना देती हैं। 'रुधिर से फूट पड़ी रुचिमान, पल्लवों की यह सजल प्रभात', पंक्तियाँ, निर्दोष न होते हुए भी, चित्र का समर्थ संकेत करती हैं। निम्न पद्य सुलभ उदाहरणों में हैं:—

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार,
　　जिसके चरणों में पला ताल
　　दर्पण-सा फैला है विशाल। (पल्लव)

वन के विटपों की डाल-डाल
कोमल कलियों से लाल-लाल,
फैली नव मधु की रूप-ज्वाल, (गुंजन)

निम्न चित्र में जो पन्त के प्रौढ़तर काल की सृष्टि है काव्य-सामग्री की मनोरम चारुता और विधान का एतावत्त्व (Exactness) है—

कम ग्रथित कर पाते हैं। हम अपनी बात उदाहरण से स्पष्ट करें। रवीन्द्र की "उर्वशी" एक उदात्त कृति है क्योंकि उसमें उनका अनुभव पुंजीभूत रूप में व्यक्त हो सका है। शेली की "पश्चिम प्रभंजन" और कीट्स की "नाइटिंगेल" भी ऐसी ही रचनाएँ हैं। वर्ड्सवर्थ की "कोयल" जैसी छोटी गीतियों में गठन की वैसी ही दृढ़ता है। पंत की "परिवर्तन" जैसी कुछ रचनाओं में ही यह गठन पाई जाती है।

अब तक हमने पन्त के काव्य के एक पहलू की बिल्कुल चर्चा नहीं की—उनके विचार-पक्ष या जीवन-दर्शन की। उसका कारण है : हमारी समझ में पन्तजी अपने विचारों को काव्योचित रूप में कम प्रकट कर पाये हैं।

जिस यथार्थ का हम कला में प्रकाशन करते हैं वह नितान्त जटिल और बहुमुखी होता है। अनिवार्य रूप से प्रत्येक कलाकार को यथार्थ के विस्तृत क्रोड़ से चित्रों और छवियों का चयन करना पड़ता है। यह चयन स्वभावतः कलाकार की रुचि और दृष्टि से नियन्त्रित रहता है। कला में रचयिता की रुचि और जीवन-दृष्टि के अभिव्यक्त होने का यही प्रकृत मार्ग है।

कालिदास जैसे कलाकार, विचारक न होते हुए भी, केवल अपनी चयन-क्रिया द्वारा एक सम्पूर्ण युग और सभ्यता को प्रकाशित कर देते हैं। आज का कलाकार विचारक बनने को बाध्य है, पर उसके विचारों के प्रकाशन का तरीका अब भी बहुत-कुछ वही है। आज का उपान्यासकार विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व में युग के विशिष्ट रूपों और युग की विभिन्न दृष्टियों को साकार कर देता है—क्योंकि युग की समस्त शक्तियाँ और भावनाएँ अन्ततः व्यक्तियों के ही जीवन में चरितार्थ होती हैं।

पन्त ने विचार-प्रकाशन के इस प्रकृत पथ का अनुसरण नहीं किया है, इसका प्रधान कारण प्रगतिवादी आन्दोलन का प्रभाव है। महादेवीजी के शब्दों में प्रगतिवाद काव्य में मार्क्सवाद का "अक्षरशः अनुवाद" चाहता है। प्रगतिवादी आलोचक की सबसे बड़ी चिन्ता यह जान लेना होती है कि लेखक-विशेष का राजनीतिक मतामत क्या है; वह बड़े अधैर्य से इस मतामत की घोषणा की प्रतीक्षा करता है। 'तुम लिख रहे हो और कलात्मक ढंग से लिख रहे हो यह ठीक है—इसकी परीक्षा बाद में होती रहेगी—लेकिन तुम पहले यह बताओ कि तुम हो कौन, बुर्जुआ अथवा कामरेड, पूँजीवाद के समर्थक या साम्यवाद के—बोलो!' प्रगतिवादियों के भय से बहुत से लेखकों ने स्पष्ट ढंग से वादविशेष को अनूदित करने की कोशिश की, और इस प्रकार अपने कलात्मक व्यक्तित्व को संकुचित और कुंठित बना लिया।

पिछले वर्षों से पन्त जी लगातार अपनी विचारसरणियों (Ideolog
का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करते रहे हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा
कि कलात्मक दृष्टि से भी ये अब विकासशील हैं।

संक्षेप में, लेखक के कलात्मक व्यक्तित्व का विकास दो दिशाओं में
है—एक ओर, अवस्था और रुचियों की वृद्धि के साथ, उसकी अनुभूति
अर्थात् अनुभूत यथार्थ की परिधि का, विस्तार होता चलता है और
ओर उसकी अभिव्यक्ति में क्रमशः अधिक जटिलता, दृढ़ता एवं अर्थ-
(शब्दों का पूर्णतया सार्थक प्रयोग) का समावेश होता जाता है।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से पन्तजी अपने विकास की चरम भूमि
पहुँच चुके हैं; तत्सम शब्द प्रधान हिन्दी भाषा पर, हमारी सम्मति में, उ
प्रसाद से अधिक दृढ़ अधिकार है। अभिव्यक्ति के एक धरातल का नि
सफल निर्वाह पन्त कर सकते हैं वैसा प्रसाद नहीं। इसकी परीक्षा के
आप 'स्वर्णधूलि' की प्रथम कविता लें और 'कामायनी' के, एक जग
उठाये हुए, किन्हीं भी आठ पद्यों से उसकी तुलना कर लें।†

किन्तु अनुभूति की दृष्टि से पन्त की सम्वेदना अब यथार्थ के अभि
युग की आत्मा को प्रकाशित करने वाले, रूपों में प्रसरित होती नहीं दीख
फलतः एक ओर जहाँ उनकी वाणी में एकरसता बढ़ रही है वहाँ दूसरी
वह पूर्व-संचित प्रकृति-चित्रों से, गहरी ममता के बिना, क्रीड़ा करती दि
देती है। उत्तरकालीन रवीन्द्र के काव्य में भी यही बात पाई जाती है।

यौवनोत्तर काल में हम किसी भी कलाकार से नये प्रकृति और प्रेम-क
की नहीं, शायद नये वस्तु-बोध की भी नहीं, नवीन जीवन-विवेक की ही माँग
सकते हैं। यह जीवन-विवेक वही कलाकार दे सकता है जो अपने संवेदनशी
वर्षों में सतर्क भाव से जीवन को समग्रता में देखने का प्रयत्न करता रहा
पर अभी तक उस समग्रता को व्यवस्थित अभिव्यक्ति न दे सका हो। क्या प
के नये धार्मिक काव्य से हमारा देश वैसा जीवन-विवेक प्राप्त कर सकेगा?

महादेवी वर्मा

महादेवी जी ने अपनी कविता में कहीं भी युग-जीवन, अथवा स्व
जीवन के सम्बन्ध में विचार प्रकट करने की चेष्टा नहीं की है, उनके आलो
चक के लिए यह बड़े संतोष की बात है। किन्तु यह होते हुए भी उन्हों
जहाँ कहीं अपने पद्य में कुछ कहने का प्रयत्न किया है, वहाँ अनिवार्य रू

† 'कामायनी' के अन्तिम ढाई सर्गों में अभिव्यक्ति प्रौढ़तर है।

में, सांस्कृतिक सफाई पेश की है। यह मान लेने के बाद कि रीतिकालीन काव्य सांस्कृतिक दृष्टि से हेय था, वे कहती हैं कि 'यह तो स्पष्ट ही है कि खड़ी बोली का सौंदर्यहीन इतिवृत्त उसे हिला भी न सकता था।'[1] वे छायावाद की इस विशेषता को कि उसमें 'वासना को बिना स्पर्श किये हुये जीवन और कृति के सौंदर्य को' चित्रित किया, उसके महत्व का कारण मानती हैं। इसके विपरीत हमारा विचार है कि देश के शृंगार-विरोधी राष्ट्रीय वातावरण ने छायावादी कवियों को नये स्वर एवं नये चित्रों में प्रेम-काव्य लिखने को विवश किया। इस परिस्थिति का जहाँ एक अप्रिय परिणाम यह हुआ कि छायावाद में स्वस्थ ऐन्द्रिय अभिव्यक्ति नहीं हुई जिसके फलस्वरूप वह अपेक्षाकृत धूमिल एवं दुर्बोध बनकर रह गया, वहाँ उससे यह लाभ भी हुआ कि हिन्दी कविता सहसा अनुभूति और कल्पना के आपाततः नवीन क्षेत्र में बढ़ पड़ी। खास कर महादेवी जी का काव्य युग के नैतिक आतंक की विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण देन कहा जा सकता है।

महादेवी जी ने लिखा है—'यथार्थ का काव्यगत चित्रण सहज होता है यह धारणा भ्रान्ति मूलक ही प्रमाणित होगी।'[1] यह ठीक है, इसीलिए सूर जैसे यथार्थ के सफल चितेरे दुर्लभ रहे हैं, स्वयं महादेवीजी ने दीन-दुखियों से भरे बाह्य जीवन को वाणी देने की कभी कोशिश नहीं की, यद्यपि हृदय से वे नितान्त करुणामयी हैं। वास्तव में उन्होंने ठीक से अपनी शक्तियों को समझ कर उनका एक निर्दिष्ट दिशा में सफल प्रयोग किया है। इसका मतलब यह है कि महादेवी जी बड़ी सजग कलाकार हैं। वे अपनी रचना को बड़े मनोयोग एवं परिश्रम से सँवार-सुधार कर पाठकों के सम्मुख रखती हैं। इसके कारण जहाँ हमें उनसे अक्सर प्रवाहहीनता की शिकायत होती है वहाँ कभी-कभी उनकी कृतियों में कला की वह पूर्णता और गौरव देखने को मिलता है जो हमारे काव्य में बिहारी सतसई के बाहर दुर्लभ है।

इस कलासौष्ठव का बहुत ही परिष्कृत एवं मनोहारी रूप महादेवी जी के संगीत-विधान में मिलता है। अन्य छायावादी कवियों की रचना में मधुर ध्वनि एवं श्रुति-सुखद पद-योजना का संगीत है, इसके विपरीत महादेवी जी में "ध्वनियों के लयपूर्ण संगठन का मार्मिक संगीत है। महादेवी जी के सुगठित गीतों की तुलना में पंत का शब्द-संगीत अपेक्षाकृत मर्म-हीन जान पड़ता है। यों महादेवी जी ने बहुत अधिक छन्दों का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु थोड़े ही छन्द-रूपों की परिधि में उन्होंने जितनी लयात्मक विविधता का विधान किया है वह अद्भुत है। परिचित-से-परिचित छन्दों को वे इस

[1] आधुनिक कवि—१, भूमिका

तरह विभक्त और ग्रथित करती हैं कि पाठक अनिर्वाच्य नवीनता की से पुलकित हो जाता है।

इन आँखों ने देखी न राह कहीं,
इन्हें धो गया नेह का नीर नहीं।

और,

पथ देख बिता दी रैन,
मैं प्रिय पहचानी नहीं।

अथवा

मुखर पिक हौले बोल,
हठीले हौले हौले बोल।

निम्न पंक्ति में ध्वनियों का जैसा दृढ़ संगठन है वह छायावादी का दुर्लभ वस्तु है :—

गाती कमल के कक्ष में मधुगीत मतवाली अलिनि।

निम्न पद्यों का संगीत हिन्दी के लिए एकदम "नया" मालूम पड़ता है

प्रिय गया है लौट रात!
सजल धवल अलस चरण,
मूक मदिर मधुर करुण,
चाँदनी है अश्रुस्नात।

और,

ओ विभावरी!
चाँदनी का अंगराग,
माँग में सजा पराग।
रश्मितार बाँध मृदुल
चिकुर - भार री
ओ विभावरी!

जी होता है कि इसी तरह के बहुत से पदों को उद्धृत कर लिया और फिर उन्हें बार-बार पढ़ा जाय, किन्तु इस लोभ का संवरण कर पड़ेगा। महादेवी जी ने अनेक उर्दू छन्दों को हिन्दी के कलेवर में ढा दिया है और इतनी सफलता से कि उन्हें पहचानना कठिन हो जा है। इस दृष्टि से हिन्दी का कोई दूसरा कवि उनसे आधा लाभ भी नहीं सका है। भविष्य के जागरूक आलोचक महादेवी के इस कृतित्व अवश्य ही पूरी दाद देंगे। कवयित्री के एक महत्त्वपूर्ण पद को उद्धृत का लोभ हम नहीं रोक सकते—

आ मेरी चिर मिलनयामिनी!
तममयि घिर आ धीरे धीरे,
आज न सज अलकों में हीरे,
चौंका दें जग श्वास न सीरे,
ढीले भरें शिथिल कबरी में—
गूँथें हरशृंगार कामिनी।

खड़ी बोली हिन्दी की तो बात ही क्या, संगीत-समुद्र 'सूर सागर' में भी इतने संगीतपूर्ण पद्यों की खोज निकालना सरल नहीं होगा। वस्तुतः महादेवी जी का संगीत लघु-सूक्ष्म ध्वनियों की चेतना पर आधारित होने के कारण सूर-तुलसी आदि के संगीत से भिन्न कोटि का है।

हमने महादेवी जी के संगीत की विशेष चर्चा की क्योंकि संगीत गीत-काव्य का एक प्रमुख उपादान है। महादेवीजी के श्रेष्ठतम गीतों में काफी संख्या उनकी है जिनमें उनकी संगीत-चेतना ने अभिनव प्रयोगों की सृष्टि की है। उनसे तुलना करने योग्य गीत अन्य कवियों में कठिनता से मिल सकेंगे। इस दृष्टि से प्रसाद का एक ही गीत याद पड़ता है जो महादेवी के दर्जन से अधिक वैसे गीतों से होड़ ले सके—अर्थात् उनका 'बीती विभावरी जाग री!' से शुरू होनेवाला गीत।

महादेवीजी श्रेष्ठ शब्दशिल्पिनी भी हैं, उनकी पद-योजना भी अर्थ से अधिक भावना और संगीत का अनुवर्तन करती हैं।

तिमिरपारावार में आलोकप्रतिमा है अकंपित।
आज ज्वाला से बरसता क्यों मधुर घनसार सुरभित?

अथवा,

नव इन्द्र धनुष सा चीर महावर अंजन ले,
अलिगुंजित मीलित पंकज नूपुर रुनझुन ले,
फिर आई मनाने साँझ
मैं बेसुध मानी नहीं।

अब हम महादेवीजी की भावभूमि में पैठने का प्रयत्न करेंगे। महादेवी जी के गीतों का विषय अन्तर्जग है, अर्थात् प्रणयमूलक संकल्प और भावनाएँ। साहित्य केवल सिद्ध यथार्थ का उद्घाटन ही नहीं करता, यथार्थ से गृहीत तत्त्वों का भावना और रूप के अभिनव संविधानों में ग्रथन करके वह हमारे भाव-जगत को प्रसार देता है। प्रेमियों का सूक्ष्म-कोमल सम्बन्ध-पट, विशेषतः, सुकुमार भावना-सूत्रों के तानेबाने से ही बुना जाता है, जिसके

कारण उसमें अपार्थिव मृदुता और आलोकपूर्ण स्निग्धता का समावेश हो जाता है। यह सम्बन्ध सजीव एवं रमणीय जान पड़े इसके लिये उसका लोक-सम्वेदना से संपृक्त रहना जरूरी है। महादेवीजी के अतिपरिष्कृत एवं बौद्धिक गीतों में इस अन्तिम तत्व की कमी या अभाव कभी-कभी खलने लगता है।

कवयित्री की प्रणयाभिव्यक्ति में शारीरिक स्पर्श के संकेतों को प्रयत्न पूर्वक बहिष्कृत किया गया है। उस अभिव्यक्ति के लिये जिन बाहरी-भीतरी उपादानों का उपयोग हुआ है वे सर्वत्र लघु-सूक्ष्म कोटि के हैं। फलतः उनके गीतों में अल्पता, कोमलता, मृदुता आदि के व्यंजक हलके बारीक चित्रों का प्राधान्य है जैसे दीप, बर्ती, अश्रु, ओस कण, स्मित, स्वप्न पलक, भीनी गन्ध, कलियाँ इत्यादि; वहाँ प्रायः तारे दीपक बन जाते हैं और विद्युत् क्षीणालोक रेखा, वहाँ झञ्झा और प्रलय, अन्तर्जगत में सिमट कर, आन्तरिक हलचल मात्र के पर्याय बन जाते हैं।

अपनी आत्यंतिक सूक्ष्मता के कारण महादेवी जी का अधिकांश काव्य विशेष ध्यान से पढ़ने पर ही समझ में आता है। उसमें संनिवेशित संश्लेषण और विश्लेषण दोनों ही बारीक और दुर्बोध कोटि के हैं। जहाँ इस बारीकी के बीच लोक-संवेद्य सहज भावनाओं का समावेश होता चलता है वहाँ उनके गीत अतर्कित रूप में हृदयग्राही हो जाते हैं। प्रेम-काव्य होने के नाते उक्त भावनाओं की विरलता नहीं होनी चाहिए थी, किन्तु महादेवी की अपार्थिव प्रणय-सम्वेदना भी बौद्धिक धारणाओं की भाँति सूक्ष्म और दुरूह हो गई है।

इस प्रणय-चेतना का केन्द्र स्वयं प्रेमिका का व्यक्तित्व है। 'यामा' एवं 'दीपशिखा' के समस्त चित्र नारी चित्र हैं यह आकस्मिक बात नहीं है। कहा जा सकता है कि कवयित्री का प्रेम पात्र अरूप-अवर्ण्य है अतः चित्रों में उसका अंकन सम्भव न था। ध्यान देने की बात यह है कि उनके गीतों और चित्रों में सर्वत्र विरहिणी प्रेमिका के व्यक्तित्व का ही उद्घाटन हुआ है। महादेवी की चेतना का केन्द्र सर्वत्र स्वयं उनका भाव-कल्पित व्यक्तित्व है; उनका काव्य आत्यन्तिक अर्थ में आत्मनिष्ठ काव्य है। उस काव्य को समझने का अर्थ इस व्यक्तित्व या प्रेमिका के विभिन्न भाव-संकल्पों अथवा रूपों को समझना है।

महादेवी के सब से अधिक मूर्त, और शायद, सबसे मनोज्ञ-मनोरम गीत वे हैं जिनमें उन्होंने नारी अथवा नारी-रूप में कल्पित प्रकृति, सत्ता की

रूप-सज्जा का सप्रयास चित्रण किया है। 'रश्मि' में वयःसंधि को छूनेवाली किशोरी नायिका का चित्र देखिए:—

सजनि तेरे दृग बाल
चकित से विस्मित से दृग बाल
आज खोये से आते लौट
कहाँ अपनी चंचलता हार?
झुकी जातीं पलकें सुकुमार
कौन से नव रहस्य के भार?

सरल तेरा मृदु हास
अकारण वह शैशव का हास
बन गया कब कैसे चुपचाप
लाजभीनी सी मृदु मुस्कान
तड़ित सी जो अधरों की ओट,
झाँक हो जाती अन्तर्धान!

दूसरा पद्य रवीन्द्र की 'मुस्कराहट जो शिशु के अधरों पर थिरकती है' पंक्ति से होड़ ले सकता है। यह गीत उन अपवादों में से है जिनमें निरीक्षित यथार्थ को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। 'रूपसि तेरा घन केशपाश!', 'शृंगार कर ले री सजनि!', 'आ वसन्त रजनी!', 'ओ विभावरी!', 'लय गीत मदिर, गति ताल अमर, अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर!' आदि (नीरजा के) गीतों के आकर्षण का यही रहस्य है। 'सान्ध्य गीत' का 'जाग जाग सुकेशिनी री!' गीत इसी कोटि का है। 'यूथी की मीलित कलियों से अलि दे मेरी कबरी सँवार' जैसी पंक्तियाँ, सूक्ष्म एवं प्रच्छन्न रूप में हमारे अहं को प्रसन्न-पुष्ट करती हुई, हमें सहज ही प्रिय लगती हैं। सान्ध्य गीत में ही 'ओ अरुण वसना' एक नितान्त प्रभावपूर्ण गीत है।

इन गीतों में प्रायः सभी बड़े संगीतपूर्ण हैं यह आकस्मिक बात नहीं है; कवयित्री ने उन्हें विशेष रस के साथ लिखा है।

उक्त कोटि के गीतों से भिन्न वे गीत हैं जिनमें विरह-तप्त विरहिणी के दीप्तिवान् चित्र हैं। यहाँ भी विरहिणी का व्यक्तित्व ही केन्द्र में रहता है, अपनी अवस्था पर निर्बल आँसू बहाने के बदले वह प्रायः कष्ट और वेदना की अनुभूति को अपने महत्त्व का प्रतिमान व्यक्त और महसूस करती है। महादेवी की विरहिणी अपनी वेदना में भी उदात्त और गरिमामयी है। अपने जलते हुए रोमों, तप्त निःश्वासों और गीले पलकों में वह विश्व की

विराट शक्तियों की क्रीड़ा देखनी है। विरह-वेदना उसके अहं को परास्त न करके उसे वीर दर्प से महिमान्वित कर देती है।

मैं बनी मधुमास आली
रजत-स्वप्नों में उदित अपलक विरल तारावली,
जाग सुख-पिक ने अचानक मदिर पंचम तान ली,
वह चली निःश्वास की मृदु
वात मलय-निकुंज-पाली।

❀

प्रिय मैं हूँ एक पहेली भी।
मेरे प्रति रोमों से अविरत
झरते हैं निर्झर और आग,
करतीं विरक्ति आसक्ति प्यार
मेरी श्वासों में जाग जाग,
प्रिय मैं सीमा की गोद पली
पर हूँ असीम से खेली भी!

न केवल यह विरहिणी वेदना के स्फुलिंगों की अभ्यस्त है, वह कष्ट और आँसुओं का स्वागत करती है—

झरते नित लोचन मेरे हों!

और कभी-कभी इस दर्प के पीछे चमकनेवाली करुणा हमारे मर्मस्थल में चोट करती है—

झिलमिलाती रात मेरी!
साँझ के अन्तिम सुनहले
हास-सी चुपचाप आकर
मूक चितवन की विभा
तेरी अचानक छू गई भर;
बन गई दीपावली तब आँसुओं की पाँत मेरी!

तथापि इस तेजस्विनी विरहिणी को किसी प्रकार की भ्रान्ति, भय, निराशा या अनुत्साह नहीं है, उसकी साधना का क्रम अटूट है।

पंथ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला!
और होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे
दुखव्रती निर्माण-उन्मद
यह अमरता नापते पद

बाँध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण-बेला।

रहस्यवाद अथवा असीम अनन्त के प्रति प्रणय-निवेदन की भावना का एक सत्प्रभाव यह पड़ा है कि कहीं-कहीं गायिका के स्वर में विशेष ओज और ऊँचाई आ गई है—उसकी दृष्टि सृष्टि के विराट् रूपों और विवर्त्तनों से सहज सम्पृक्त हो गई है।

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है,
जा रहे जिस पंथ से युग-कल्प उसका छोर क्या है!

किन्तु सामान्यतया महादेवी के गीतों में लघु-सूक्ष्म चित्रों का ही बाहुल्य है।

अद्वैत मूलक रहस्यवाद का आश्रय लेकर कहीं-कहीं आकर्षक रचना हो सकी है जैसे 'टूट गया वह दर्पण निर्मम' गीत में, पर ऐसी रचनाएँ प्रायः साधारण कोटि की हैं। उदाहरण के लिये 'दीपक में पतंग जलता क्यों?' गीत प्रभावशाली नहीं हो सका है।

संगीत और चित्रात्मक मांसलता से वंचित ऐसे बहुत से गीत महादेवी जी ने लिखे हैं जिनमें निपुण कल्पना अथवा उक्ति-चातुरी द्वारा साम्य या विरोध दर्शित करके प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। ऐसे गीतों को हृदयंगम करने में काफी आयास होता है और बाद में विशेष रस नहीं मिलता। अवधान द्वारा वहाँ किसी प्रकार चित्रों या उत्प्रेक्षाओं की संगति समझ में आ जाती है, बस। प्रायः ऐसे गीतों में क्लिष्ट कल्पनाओं का संचय रहता है। 'नीहार' और 'रश्मि' में (जो प्रारंभिक कृतियाँ हैं) जहाँ ऐसी रचनाओं की बहुलता है वहाँ 'सान्ध्यगीत' और 'दीपशिखा' में उनकी संख्या नगण्य नहीं है। उदाहरण के लिये 'दीपशिखा' में पर्यालमनों के बाद के आठ-दस गीत प्रायः इसी कोटि के हैं। छायावाद के अस्पष्ट या धूमिल घोषित किये जाने की जिम्मेदारी ऐसी ही रचनाओं पर है।

हमारी दृष्टि में महादेवी जी की सर्वश्रेष्ठ कृति 'नीरजा' है। संगीत और व्यंजना में उन्होंने जितने मनोज्ञ प्रयोग किये हैं उनके आधे से अधिक उसमें समावेशित हैं। 'नीरजा' प्रायः आदि से अन्त तक रोचक और नवीन लगती है। इसके बाद क्रमशः नवीनता का अनुपात घटने लगता है और एकरसता बढ़ने लगती है। वही चित्र या प्रतीक, वही कल्पनाएँ; वही भावनाएँ और वही भंगिमाएँ; वही वातावरण और वही तानाबाना—पाठक स्वभावतः ऊब महसूस करने लगता है।

उर्दू के ग़ज़लगो शायरों की भाँति महादेवीजी ने चुने हुये क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है। प्रणय-क्षेत्र में वक्रतापूर्ण चातुरी को

विराट शक्तियों की क्रीड़ा देखती है। विरह-वेदना उसके अहं को परास्त करके उसे वीर दर्प से महिमान्वित कर देती है।

मैं बनी मधुमास आली
रजत-स्वप्नों में उदित अपलक विरल तारावली,
जाग सुख-पिक ने अचानक मदिर पंचम तान ली,
वह चली निःश्वास की मृदु
वात मलय-निकुंज-पाली।

❀

प्रिय मैं हूँ एक पहेली भी।
मेरे प्रति रोमों से अविरत
झरते हैं निर्झर और आग,
करतीं विरक्ति आसक्ति प्यार
मेरी श्वासों में जाग जाग,
प्रिय मैं सीमा की गोद पली
पर हूँ असीम से खेली भी!

न केवल यह विरहिणी वेदना के स्फुलिंगों की अभ्यस्त है, वह कण और आँसुओं का स्वागत करती है--

झरते नित लोचन मेरे हों!

और कभी-कभी इस दर्प के पीछे चमकनेवाली करुणा हमारे मर्मस्थल में पैठ करती है—

झिलमिलाती रात मेरी!
साँझ के अन्तिम सुनहले
हास-सी चुपचाप आकर
मूक चितवन की विभा
तेरी अचानक छू गई भर;
बन गई दीपावली तब आँसुओं की पाँत मेरी!

तथापि इस तेजस्विनी विरहिणी को किसी प्रकार की भ्रान्ति, भय, निराशा या अनुत्साह नहीं है, उसकी साधना का क्रम अटूट है।

पंथ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला!
और होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे
दुखव्रती निर्माण-उन्मद
यह अमरता नापते पद

बाँध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण-वेला।

रहस्यवाद अथवा असीम अनन्त के प्रति प्रणय-निवेदन की भावना का एक सत्प्रभाव यह पड़ा है कि कहीं-कहीं गायिका के स्वर में विशेष ओज और ऊँचाई आ गई है—उसकी दृष्टि सृष्टि के विराट् रूपों और विवर्त्तनों से सहज सम्पृक्त हो गई है।

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है,
जा रहे जिस पंथ से युग-कल्प उसका छोर क्या है!

किन्तु सामान्यतया महादेवी के गीतों में लघु-सूक्ष्म चित्रों का ही बाहुल्य है।

अद्वैत मूलक रहस्यवाद का आश्रय लेकर कहीं-कहीं आकर्षक रचना हो सकी है जैसे 'टूट गया वह दर्पण निर्मम' गीत में, पर ऐसी रचनाएँ प्रायः साधारण कोटि की हैं। उदाहरण के लिये 'दीपक में पतंग जलता क्यों?' गीत प्रभावशाली नहीं हो सका है।

संगीत और चित्रात्मक मांसलता से वंचित ऐसे बहुत से गीत महादेवी जी ने लिखे हैं जिनमें निपुण कल्पना अथवा उक्ति-चातुरी द्वारा साम्य या विरोध दर्शित करके प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। ऐसे गीतों को हृदयंगम करने में काफी आयास होता है और बाद में विशेष रस नहीं मिलता। अवधान द्वारा वहाँ किसी प्रकार चित्रों या उत्प्रेक्षाओं की संगति समझ में आ जाती है, बस। प्रायः ऐसे गीतों में क्लिष्ट कल्पनाओं का संचय रहता है। 'नीहार' और 'रश्मि' में (जो प्रारंभिक कृतियाँ हैं) जहाँ ऐसी रचनाओं की बहुलता है वहाँ 'सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' में उनकी संख्या नगण्य नहीं है। उदाहरण के लिये 'दीपशिखा' में पचीसवें के बाद के आठ-दस गीत प्रायः इसी कोटि के हैं। छायावाद के अस्पष्ट या धूमिल घोषित किये जाने की जिम्मेदारी ऐसी ही रचनाओं पर है।

हमारी दृष्टि में महादेवी जी की सर्वश्रेष्ठ कृति 'नीरजा' है। संगीत और व्यंजना में उन्होंने जितने मनोज्ञ प्रयोग किये हैं उनके आधे से अधिक उसमें समावेशित हैं। 'नीरजा' प्रायः आदि से अन्त तक रोचक और नवीन लगती है। इसके बाद क्रमशः नवीनता का अनुपात घटने लगता है और एकरसता बढ़ने लगती है। वही चित्र या प्रतीक, वही कल्पनाएँ; वही भावनाएँ और वही भंगियाँ; वही वातावरण और वही तानाबाना—पाठक स्वभावतः ऊब महसूस करने लगता है।

उर्दू के ग़ज़लगो शायरों की भाँति महादेवीजी ने चुने हुये क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है। प्रणय-क्षेत्र में वक्रतापूर्ण चातुरी को

काफी स्थान रहता है; महादेवीजी में इस चातुरी की कमी नहीं, पर उनकी अभिव्यक्ति उर्दू ग़ज़ल से भिन्न प्रकार की हुई है। कहीं-कहीं ग़ज़ल की वक्रता का पुट आया है, पर वहाँ सफल निर्वाह नहीं हो सका है। उदाहरण,

फिर चली पलकें तुम्हारी पर कथा है शेष

(दीपशिखा–२०)

शेष गीत में इस पंक्ति की विशिष्ट भंगी का निर्वाह नहीं हुआ है। उर्दू का एक शेर देखिये,

यह आजाद सो भी गये सुन के लेकिन
हम अफ़सनाए ग़म कहे जा रहे हैं!

उर्दू संगीत की भाँति उर्दू ग़ज़ल की वक्रता को अपनाने की बात, शायद, महादेवीजी के ध्यान में आई नहीं। संभवतः उनके गीतों का रहस्यवादी स्वर इस प्रकार की उक्ति शैली में बाधक बन गया।

छायावादी युग की गीत-सृष्टि में महादेवी सहज ही अद्वितीय हैं। 'नीरजा', 'सांध्यगीत', 'दीपशिखा' आदि में कम-से-कम पचास ऐसे गीत हैं जो अपने कलात्मक सौष्ठव के कारण हमारे साहित्य की अमर निधि बने रहेंगे। गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से उनकी यह देन 'बिहारी सतसई' से कम नहीं है, यद्यपि, अपनी दुरुहता के कारण, वे कभी बिहारीलाल के बराबर पाठकों की संख्या को आकृष्ट नहीं कर सकेंगी।

जयशंकर 'प्रसाद'

सृजनात्मक साहित्य के क्षेत्र में प्रसाद जी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी लेखक हैं। उत्तर-भारतेन्दु काल के वे सबसे मौलिक नाटककार हैं और, जहाँ उनके उपन्यासों के महत्त्व में सन्देह किया जा सकता है, वहाँ हिन्दी कहानी के इतिहास में, अपनी निराली शैली के कारण, उनका स्थान अमर है। वे छायावाद के अन्यतम कवि भी हैं।

ऊपर की अधिकांश मान्यताएँ सर्वस्वीकृत-सी हैं। अपने कतिपय माननीय मित्रों से जहाँ हमारा मतभेद है वह प्रसाद के काव्य की आपेक्षिक स्थिति को लेकर; विशेषतः 'कामायनी' के सम्बन्ध में हमारे विचार प्रचलित मान्यताओं से काफी भिन्न हैं।

आलोचना का उद्देश्य रस-संवेदना का शिक्षण और परिष्कार है, अर्थात् रसानुभूति को सच्चे। बनाना। वह कोई बाज़ीगर का तमाशा या जादू नहीं है जो कुछ को कुछ दर्शित कर दे। अन्ततः उसकी प्रवृत्ति जातीय मस्तिष्क में उच्च सांस्कृतिक मानों की चेतना उत्पन्न करने के लिए है।

'कामायनी' के कुछ अंशों के सम्बन्ध में हमने 'छायावाद'—पुस्तक में

जहाँ-तहाँ विचार प्रकट किये हैं, उनमें संशोधन करने की विशेष आवश्यकता हम आज भी नहीं देखते। किन्तु 'कामायनी' पर विस्तृत निर्णय देने से पहले हम प्रसाद के काव्यगत कृतित्व का सामान्य रूप समझने की चेष्टा करेंगे।

भाव-चेतना की दृष्टि से महादेवी और प्रसाद में दो ध्रुवों का अन्तर है; एक की संवेदना सुकुमार तन्तुओं और सूक्ष्म रेखाओं से निर्मित है तो दूसरे की वितत चित्रों और पृथुल स्पर्शों से। मध्यम परिमाण के पक्षपाती पन्त की स्थिति इन दोनों के बीच में है।

महादेवी और प्रसाद का यह वैषम्य दोनों के प्रेम अथवा विरह-काव्य की तुलना से स्पष्ट हो जायगा। महादेवी की छुईमुई जैसी प्रणयिनी महावत सम्पर्क की सम्भावना से घबराती है, वह तपोवन की मालिनी है जो अपने एकान्त को लालसा और विलास की उन्मत्त क्रीड़ा से सुरक्षित रखना चाहती है (यामा--नीहार, पृ० ३८)। प्रियतम से उसका छाया-सम्बन्ध अँधेरे के स्मित विभासित रहस्य में घटित होता है। इसके विपरीत प्रसाद का प्रणयी चित्त निसर्गतः उद्दाम और विलासी है। शायद युग की मनोवृत्ति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इस प्रणय के वियोग-पक्ष का ही विशेष वर्णन किया है।

प्रसाद की काव्य-कृतियों में 'आँसू' का विशिष्ट स्थान है। उसमें जिस अतीत प्रणय-सम्बन्ध के तिरोहित हो जाने की वेदना का वर्णन है वह एक "महामिलन" के रूप में अनुष्ठित हुआ था। उसका स्पर्श मलय-पवन की भाँति सम्पूर्ण अस्तित्व को छूने वाला विपुल स्पर्श था।

> छिप गईं कहाँ छूकर वे
> मलयज की मृदुल हिलोरें ?

और उसका सम्भाव्य सुख भी प्रचुर सुख है,

> इतना सुख जो न समाता
> अन्तरिक्ष में, जलथल में।

कवि का विपुल दुख 'ऊषा की मृदु पलकों में,' और उसका सुख 'सन्ध्या की घन अलकों में' छलकता है—वह हृदय के निभृत क्षुद्र कोने की चीज नहीं है। जब दुःख ने हृदय पर आक्रमण किया तो एक चुभनेवाले क्षुद्र शूल की भाँति नहीं, अपितु एक विराट महासंकट के रूप में-

> झंझा झकोर गर्जन था,
> बिजली थी नीरद माला,
> पाकर इस शून्य हृदय को
> सबने आ डेरा डाला।

यदि कभी इस उद्दाम प्रेमी को प्रेमपात्र दिखाई दे गया तो वह उसे विस्तृत विपुल मरुपथ पर पकड़ बैठेगा—

चमकूँगा धूल कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
मरु पथ में टकराऊँगा।

'आँसू' काव्य की प्रधान विशेषता इस प्रकार का ओज और शक्ति है, यह प्रसाद की भाव संवेदना की भी व्यापक विशेषता है। 'बादल राग' और 'राम की शक्ति उपासना' के गायक निराला में भी यह विशेषता पाई जाती है। इसे हम सुन्दर से भिन्न उदात्त या विराट् (Sublime) की चेतना भी कह सकते हैं।

सम्भवतः निराला की उदात्त-चेतना प्रसाद की तुलना में अधिक गत्यात्मक है, यह शक्तिपूर्ण क्रिया या व्यापार में अधिक रमती है; उसका आधारभूत व्यक्तित्व भी अधिक गत्यात्मक और स्वभावतः विद्रोही अर्थात् शक्तिपूर्ण है।

प्रसाद ने सौंदर्य के कोमल पक्ष से सम्बद्ध गीत भी लिखे हैं, और उस पक्ष का जहाँ-तहाँ वर्णन भी किया है। 'आँसू' में रूप-चित्र खड़े करनेवाले कतिपय सुन्दर पद्य हैं, जैसे—'शशिमुख पर घूँघट डाले,' 'बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से,' आदि। इन वर्णनों में प्रसाद जी जब-तब निपुण वक्ता का भी समावेश कर देते हैं, जैसे 'काली जंजीरों' वाले पद्य में। कहीं-कहीं वे नितान्त नवीन और मार्मिक उपमाओं द्वारा रूप को प्रत्यक्ष करते हैं यथा,

मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के। [आँसू]

और

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग। [कामायनी]

पहले अवतरण में कानों का वर्णन है जो एकदम नया है, दूसरे में श्रद्धा के वक्षभाग के आभापूर्ण सौन्दर्य का संकेत है। पन्त का हृदय प्रकृति में अधिक रमता है, प्रसाद का नारी (अथवा प्रेमपात्र के) सौन्दर्य में। उन्हें प्रकृति जहाँ सुन्दर लगती है वहाँ वह मानो नारी के ही रूप की झलक दिखलाती है—प्रकृति का सौंदर्य भी मूल में नारी का ही सौंदर्य है।

कुटिल कुन्तल से बनाती काल मायाजाल
नीलिमा से नयन की रचती तमिस्रा माल
(कामायनी—वासना)

प्रसाद जी प्रकृति के व्यापारों में अक्सर मानव जीवन के प्रति संकेत देखते हैं और वे प्रकृति-वर्णन में प्रायः जीवन-सम्बन्धी विचारों या भावनाओं का मिश्रण कर देते हैं।

हे सागर संगम अरुण नील
अतलान्त महागम्भीर जलधि,
तज कर यह अपनी नियत अवधि
लहरों के भीषण हासों में
आकर खारे उच्छ्वासों में
युग-युग को मधुर कामना के—
बन्धन को देता जहाँ ढील।

नारी-रूप के साथ प्रसाद जी यौवन के कवि भी हैं, उसके आलोड़न की अभिव्यक्ति उन्हें रुचिकर है।

आह रे, वह अधीर यौवन !
अधर में वह अधरों की प्यास
नयन में दर्शन का विश्वास
(इत्यादि—लहर)

हमने प्रसाद जी के अनुभूति क्षेत्र का संकेत करने का प्रयत्न किया। हमें कहना है कि यह क्षेत्र मुख्यतः वैयक्तिक चेतना का क्षेत्र है। क्या 'कामायनी' में प्रसाद ने सामाजिक जीवन की चेतना का, मानवी सम्बन्धों की मार्मिक अवगति का, परिचय दिया है ? दूसरा प्रश्न यह है कि विशिष्ट क्षेत्रों में प्रसाद जी की अभिव्यक्ति कितनी सबल और परिष्कृत हुई है।

कामायनी

केवल 'आंसू', 'लहर' आदि संग्रहों के बल पर, शायद, कोई समीक्षक प्रसाद को पन्त और महादेवी से महत्तर घोषित करने का साहस नहीं करेगा। इस प्रकार की घोषणा का आधार उनका 'कामायनी' काव्य ही समझा जाता है। इस सिलसिले में दो चीज़ों पर गौरव दिया जाता है, कहा जाता है कि कामायनी महाकाव्य है, फुटकर गीतों का संग्रह मात्र नहीं; और यह कि उसमें उदात्त मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक सत्यों का निरूपण है।

'कामायनी' का आख्यान ऋग्वेद, शतपथ आदि प्राचीन ग्रन्थों से संकलित किया गया है। उक्त काव्य का मुख्य उद्देश्य मनु एवं श्रद्धा की कथा कहना है किन्तु यदि ये पात्र सांकेतिक मनोवैज्ञानिक अर्थों को भी व्यक्त करें तो कवि को 'कोई आपत्ति नहीं।' व्याख्याताओं का अनुमान है

कि इस काव्य के श्रद्धा, इड़ा आदि पात्र मनोवृत्तियों के भी नाम हैं। सर्गों का नामकरण भी मनोवृत्तियों के आधार पर हुआ है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि इस काव्य में लज्जा आदि कतिपय विकारों के सफल चित्र अंकित किये गये हैं। किन्तु यह कार्य चार-छै लम्बी कविताओं में भी सम्पन्न हो सकता था और केवल इतने से उक्त काव्य को प्रथम श्रेणी की रचना नहीं माना जा सकता। वृत्तियों में लज्जा के मूर्त्तीकरण में ही विशेष सफलता मिली है। काम, वासना आदि के वर्णन में कोई नवीनता नहीं है। चार-छै पद्य चिन्ता पर चित्रण-परक कहे जा सकते हैं।

किन्तु यह सफलता बड़ी महँगी पड़ी है। वृत्तियों के निरूपण के चक्कर में कथा-सूत्र बुरी तरह उलझ गया है और पात्रों का व्यक्तित्व धुँधली कल्पनाओं में खो गया है। मनु, श्रद्धा, इड़ा सब का व्यक्तित्व अधूरा और अशक्त जान पड़ता है। प्रसाद के नाटकों की कतिपय नारियाँ जैसी सजीव हैं श्रद्धा और इड़ा वैसी ही निष्प्राण और काल्पनिक प्रतीत होती हैं। उनका चरित्र एकदम पहेली जैसा जान पड़ता है।

मनु का चरित्र भी वैसा ही है। देव-सृष्टि के ध्वंस का स्मरण करके वे चिन्ता करते हैं, अपने को अधमपात्रमय विष्कम्भ कहते हैं, विश्वशक्ति का जिसके शासन में वरुण आदि घूम रहे हैं बखान करते हुए घोषित करते हैं कि 'सब परिवर्तन के पुतले हैं।' इसके बाद, क्रमशः श्रद्धा से परिचय और परिणय करके, वे यकायक घोर अहंकारी, आत्मकेन्द्रित और ईर्ष्यालु बन जाते हैं। उनका यह परिवर्तन एकदम आकस्मिक और अबुद्धिगम्य है।

सबसे अधिक अबुद्धिगम्य है मनु की ईर्ष्या। परिणय से पहले ही, किसी प्रतिद्वन्द्वी के अभाव में, उनमें 'ईर्ष्या का हलपण' (वासना-सर्ग १८) उत्थित होता है। बाद में, श्रद्धा को कार्य-मग्न पाकर, वे ईर्ष्या और क्रोध से जलने लगते हैं। श्रद्धा जिस प्रकार, केवल अपने कल्पित आनन्द का हवाला देती हुई, भावी शिशु के बारे में बातें करती है वह एकदम अस्वाभाविक है—कोई भी भारतीय नारी कभी ऐसी बातें नहीं करती, यदि करेगी भी तो पति के सम्मुख नहीं, और फिर 'हमारे शिशु' की चर्चा करेगी, 'मेरे शिशु' की नहीं। हमारा अनुमान है कि संसार के किसी साहित्यकार ने, जो थोड़ा भी महत्वपूर्ण है, किसी होनेवाली माँ के मुख से ऐसी अमनोवैज्ञानिक बातें नहीं कहलाई और किसी भी महत्वपूर्ण कथा का कोई नायक इतने तुच्छ कारण से पत्नी को छोड़कर नहीं चला गया। मनु की ईर्ष्या और क्रोध एकदम व्यर्थ जान पड़ते हैं।

मनु के श्रद्धा-परित्याग की यह घटना क्या हमारे युग के किसी महत्वपूर्ण द्वन्द्व या प्रश्न पर प्रकाश डालती है ? क्या वह युग के बढ़ते हुये सन्देह या नास्तिकता की प्रतीक है ? श्रद्धा छूटने की ? बढ़ती हुई अधिकार-भावना की ? 'कामायनी' के इस निर्जीव प्रसंग में ऐसे किसी भी अर्थ को ध्वनित करने की शक्ति नहीं है।

मनु और इड़ा के प्रसंग को लीजिए। यदि इड़ा मनु पर मोहित नहीं है, उनकी ओर आकृष्ट भी नहीं है, तो वह क्यों उनका पथ-प्रदर्शन करती हुई उनके द्वारा सारस्वत नगर की स्थापना कराती है ? 'इड़ा ढालती थी वह आसव जिसकी बुझती प्यास नहीं'—यह कौन सा आसव था ? ऐसा आसव तो, काव्य की मर्यादा के अनुसार, साक़ी या प्रेयसी ही ढाला करती है। किन्तु प्रसाद जी शायद काव्य से भिन्न कोई ज़्यादा महत्वपूर्ण चीज़ लिख रहे हैं ! (यह श्रद्धा का स्वप्न था जो सत्य निकला।)

मनु का नर-पशु हुंकार उठा है, वे इड़ा का आलिंगन करना चाहते हैं। इतने में प्रजा आ पहुँची। क्या हुआ—क्या कोई शत्रु चढ़ आया ? नहीं—*अलौकिक रुद्र का अलौकिक क्रोध*। पता नहीं प्रकृति के कोप देखकर प्रजा अपने-अपने घरों में न बैठकर मनु के द्वार पर क्यों पहुँची। और इड़ा, काव्य के अन्दर, मनु की दुहिता कैसे बन गई ? मनु बेचारे कैसे जानते कि वह उनकी कन्या है ?

श्रद्धा इड़ा के घर, घायल मनु के पास, पहुँची। अभी उसकी घायल पति से बात भी नहीं हुई कि गाने लगी—मैं हृदय की बात रे मन ! क्या सचमुच यह गाने का अवसर था, या मनोवैज्ञानिक पूछताछ अथवा मरहम पट्टी का ?

और इड़ा बालक मनु-पुत्र को तिरछी दृष्टि से देखने लगी।

और सहसा कामायनी सर्वज्ञान-निधि गुरु बन कर मनु को महाचिति शिवशक्ति के लोक की ओर ले चली—वही कामायनी जो लज्जा से अपना कर्तव्य पूछती थी और मन्दाकिनी से सुख-दुख की आपेक्षिक स्थिति !

मानव-सम्बन्धों की विवृति के रूप में कामायनी, हमारी समझ में, एक नितान्त असफल प्रयत्न है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि एक फुटकर संग्रह की कुछ रचनाओं की भाँति उसके कुछ अंश, अपने अकेले रूप में, सुन्दर और ग्राह्य हैं। 'चिन्ता' के कुछ अंश, श्रद्धा-सम्बन्धी कतिपय वर्णन, लज्जा-प्रकरण, इड़ा-खण्ड के दो-चार गीत और अन्तिम तीन सर्गों का ओजपूर्ण प्रथन—कुल मिलाकर कामायनी में यही उज्ज्वल अंश हैं। अन्तिम सर्गों के अतिरिक्त प्रायः इन सब स्थलों का सौन्दर्य प्रगीत काव्य का सौन्दर्य है, और वह भी साधारण से कुछ ही ऊँची कोटि का है

अब हम कामायनी के दर्शन-पक्ष की चर्चा करें। दर्शन-खंड का उत्तम अंश वहाँ से शुरू होता है जहाँ श्रद्धा और मनु इड़ा तथा अपने पुत्र से विदा होकर चल देते हैं। यहाँ से आनन्द के अन्त तक प्रसाद जी प्रायः एक उदात्त धरातल का निर्वाह कर सके हैं। (यह बात बाकी सर्गों में नहीं है)। अभिव्यक्ति का प्रवाह सहज ओजपूर्ण और गम्भीर है, हल्के चित्रों और व्यंजनाओं का अभाव है। यहाँ प्रसाद की वाणी अपने पूर्ण मनोज्ञ रूप में दिखाई पड़ती है। कवि का गम्भीर-गहन व्यक्तित्व यहाँ अपनी पूर्णता में प्रस्फुटित है।

निस्तब्ध गगन था, दिशा शान्त
यह था असीम का चित्र कान्त

❀ ❀ ❀

थे चमक रहे दो खुले नयन
ज्यों शिलालग्न अनगढ़े रतन

❀ ❀ ❀

सत्ता का स्पन्दन चला डोल
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल

नटराज के नृत्य का उदात्त वर्णन देखिए—

आनन्द पूर्ण ताँडव सुन्दर
झरते थे उज्ज्वल श्रमसीकर,
बनते तारा, हिमकर, दिनकर,
उड़ रहे धूलिकण से भूधर,
संहार सृजन से युगल पाद
गतिशील, अनाहत हुआ नाद।

और

विद्युत कटाक्ष चल गया जिधर
कंपित संसृति बन रही उधर

'रहस्य' में कर्मलोक का अर्थपूर्ण वर्णन है:—

मनु यह श्यामल कर्मलोक है, धुँधला कुछ कुछ अंधकार सा

❀ ❀ ❀

श्रममय कोलाहल पीड़न मय विकल प्रवर्तन महायन्त्र का
क्षणभर भी विश्राम नहीं है प्राण दास है क्रियातन्त्र का
यहाँ सतत संघर्ष विफलता कोलाहल का यहाँ राज है
अन्धकार में दौड़ लग रही मतवाला सारा समाज है।

काव्य का सौन्दर्य "विशेष" की पकड़ और व्यंजना में प्रतिष्ठित है,